पुस्तिका सीरीज़—45

हमको अण्णा मांगता!

अण्णा हजारे परिघटना पर चन्द बातें

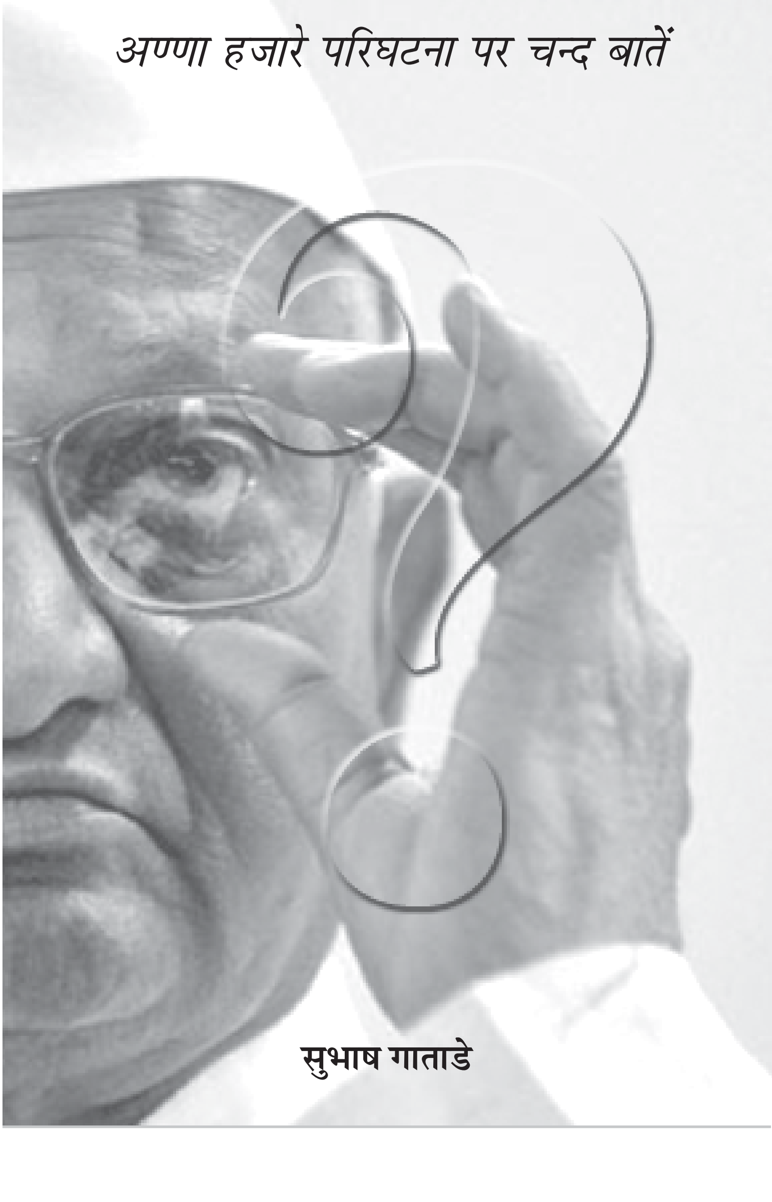

सुभाष गाताडे

हमको अण्णा मांगता!

प्रकाशक :
isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी
फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका
नई दिल्ली-110067
टेलीफोन 011-46025219 टेलीफैक्स 011-26177904
ईमेल : notowar@rediffmail.com
वेबसाइट : isd.net.in

प्रकाशन वर्ष : 2011

केवल सीमित वितरण के लिए

हमको अण्णा मांगता!

अण्णा हजारे परिघटना पर चन्द बातें

सुभाष गाताडे

ग्रीक पुराणों में मिनर्वा को ज्ञान, विवेक या कला की देवी समझा जाता है, जिसका वाहन है उल्लू। उन्नीसवीं सदी के महान आदर्शवादी दार्शनिक हेगेल का 'फिलॉसॉफी ऑफ राइट' नामक किताब का चर्चित कथन है कि ''मिनर्वा का उल्लू तभी अपने पंख फैलाता है, जब शाम होने को होती है'' (Only when the dusk starts to fall does the owl of Minerva spread its wings and fly.) – कहने का तात्पर्य दर्शन किसी ऐतिहासिक परिस्थिति को तभी समझ पाने के काबिल होता है, जब वह गुजर गयी होती है।

अब जबकि जनलोकपाल बिल लाने की मांग को लेकर अण्णा हजारे की अगुआई में चली मुहिम पूरी हो चुकी है, तो यह बेहद मौजूं होगा कि हम भी इस पूरे सिलसिले का 'विहंगावलोकन' करें।

प्रस्तावना

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ
रंज लीडर को भी बहुत हैं, मगर आराम के बाद

—अकबर इलाहाबादी

कभी-कभी वास्तविक ज़िन्दगी/रियल लाईफ रील लाईफ अर्थात फिल्मी ज़िन्दगी का किस कदर अनुकरण करती दिखती है ! पिछले दिनों वही नज़ारा हम सबके सामने नमूदार रहा है। (बकौल 24X7 मीडिया) 'अण्णा की अगस्त क्रान्ति' से या 'आज़ादी की दूसरी लड़ाई' से हम रूबरू रहे हैं जिसमें 74 साल के एक रिटायर्ड फौजी अण्णा हजारे को - जिनका नाम चन्द माह पहले सूबा महाराष्ट्र तक सीमित था - तमाम लोगों के आयकन/नायक बनाकर पेश किया गया है। वैसे ऐसे दृश्य बॉलीवुड की फिल्मों का ही हिस्सा हुआ करते थे जब कोई नामालूम सा नायक अचानक ऐसा कोई कदम उठाता कि लाखों लोग सड़कों पर उतर आते और शैतान/जनता के दुश्मन का खात्मा हो जाता।

अब उस सरगर्मी पर फिलहाल पटाक्षेप हो चुका है। वह जुलूस, वह रैलियां, वह मशाल जुलूस सभी समाप्त हो चुके हैं। अपने गालों पर तिरंगे जैसा टैटू लगाए नौजवानों के हुजूम, अपनी कारों की खिड़कियों से बेहद उन्मादी तरीके से तिरंगे को लहराते युवा, अपने सर पर 'मैं अण्णा हूं' लिखी गांधी टोपी पहने बुजुर्ग और शाम के वक्त शहर के अलग-अलग हिस्सों में टोली बना कर 'वन्दे मातरम', 'भारत माता की जय' कहते घूमने वाली टोलियां अब अपने घरों को लौट चुकी हैं। अण्णा हजारे के चेहरे वाले वे मुखौटे भी कहीं डाल दिए गए हैं। मीडिया, जिसने इस मुहिम को

व्यापक बनाने में अहम रोल अदा किया था, उसकी ओ बी वैन्स भी अब नयी सनसनी की तलाश में निकल पड़ी हैं।

अगर हम 'अण्णा' की शख्सियत के इर्दगिर्द खड़ी की गयी इस मुहिम से जुड़े कई विवादास्पद/कम चर्चित पहलुओं को थोड़ा देर के लिए मुल्तवीं करें तब भी यह मानना ही पड़ेगा कि भ्रष्टाचार के मसले पर ली गयी इस पहल ने तमाम लोगों को, खासकर मध्यम वर्ग की आबादी को, अपनी ओर आकर्षित किया है। अण्णा की इस मुहिम से जुड़े अधिकतर लोग जनलोकपाल बिल के प्रावधानों से भले परिचित नही रहे हैं, सरकार द्वारा पेश लोकपाल बिल या इस सिलसिले में नागरिक समाज के अन्य लोगों/समूहों द्वारा पेश विकल्पों से भी वह वाकिफ़ नहीं रहे हैं। ऐसी कोई सचेत कोशिश टीम अण्णा या उनके नेटवर्क के ज़रिए चली हो, इसके भी समाचार नहीं हैं। मगर उन्हें लगा है कि यह बुजुर्ग समाजसेवी, जिसका अपना निजी जीवन बेदाग रहा है और जिसने अपने आन्दोलन से सूबा महाराष्ट्र के मंत्रिमंडल के कई मंत्रियों को अपना पद छोड़ने के लिए मजबूर किया है, उसकी शख्सियत के इर्दगिर्द पेश इस नये नुस्खे से उन्हें उन तमाम दिक्कतों, परेशानियों से निज़ात मिलेगी, जिसका सामना उन्हें आए दिन सरकारी दफ्तरों में करना पड़ता है।

स्पष्ट है कि अप्रत्याशित ढंग से चली इस आंधी को मुमकिन बनाने में संघ परिवार का लम्बा चौड़ा नेटवर्क, नरम हिन्दुत्व के विचारों को प्रचारित करने में लगे विभिन्न आध्यात्मिक गुरुओं का तानाबाना, एनजीओ अर्थात गैर–सरकारी संस्थाओं के कारिन्दों का नेटवर्क तथा विभिन्न घोटालों में अपने नुमाइन्दों की संलिप्तता से बचावात्मक पैंतरा अख्तियार करने वाले कॉर्पोरेट क्षेत्र के आंकाओं ने महति योगदान दिया है। यह भी जाहिर है कि लगभग दो सप्ताह तक चली इस 'अण्णा लीला' से केन्द्र में सत्तासीन कांग्रेस के पुराने समीकरण ध्वस्त हुए दिखते हैं और उसे नयी तरकीब ढूंढने के लिए मजबूर होना पड़ा है। अपने युवराज की छवि से अब तक

बेहद आल्हादित रही कांग्रेस पार्टी बचावात्मक पैंतरा अख्तियार करने के लिए मजबूर हुई है। प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा जो इस पूरे आंदोलन का सबसे अधिक सियासी लाभ ले सकती है, वह भी फिलवक्त अपनी अन्दरूनी कलह एवं आडवाणी एण्ड कम्पनी की संघ द्वारा नियुक्त पार्टी के मुखिया के साथ जारी प्रतिद्वंदिता के चलते ऐसे रथ पर सवार सेनापति की तरह नज़र आ रही है जिसके घोड़े अलग–अलग दिशाओं में दौड़ते दिख रहे हैं।

मगर भ्रष्टाचार को मिटाने के इर्दगिर्द बढ़े समाजी–सियासी बढ़ते पारे में इस दौरान सबसे अधिक दिग्भ्रम की स्थिति में सामाजिक आन्दोलनों के लोग या वाम के धड़े दिखे हैं, जिनके सामने यह यक्षप्रश्न बना रहा है कि किया क्या जाए? उदाहरण के लिए आधिकारिक तौर पर वामपंथी पार्टियों ने 'जन लोकपाल बिल' के बारे में कोई पोजीशन नहीं ली इसके बावजूद स्थानीय स्तर उनके संगठनों के कार्यकर्ता इस 'ऐतिहासिक क्षण' में जनता के साथ खड़े रहे दिखने की कवायद में भी जुटे रहे हैं। शायद इस दिग्भ्रम/कनफ्यूजन की स्थिति का ही नतीजा रहा है कि 'जनान्दोलनों के राष्ट्रीय समन्वय' के अन्दर भी लम्बे समय तक उहापोह की स्थिति बनी रही है।

आलम यह है कि आमूल परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध अधिकतर ने यही पाया है कि विगत लगभग दो दशक से तमाम ऐसे साथी, दोस्त जो साम्प्रदायिकता, मजदूरों के जनवादी अधिकार, जातीय उत्पीड़न, अमेरिकी दादागिरी या ऐसे ही तमाम जनपक्षीय मसलों पर हमेशा साथ खड़े रहते आए हैं, उनकी राहें भी इस मसले पर जुदा–जुदा रही हैं। यहां तक कि एक संगठन के अन्दर भी आन्दोलन को लेकर विसम्वादी सुर सुनाई दिए हैं।

प्रस्तुत आलेख एक कोशिश है इस मसले पर मित्रों द्वारा या आन्दोलन से जुड़े विचारकों द्वारा या स्वतंत्र विश्लेषकों द्वारा जो कुछ लिखा गया है, उसकी चुनिन्दा बातों को आप के साथ साझा करना और अन्त में कुछ बातें

अपने मन की भी कहना।

कोई यह पूछ सकता है कि अब जबकि इक्कीसवीं सदी की दूसरी दहाई की शुरुआत में उभरा 'अण्णा पल' बीत चुका है, तो फिर उन बातों को याद करने की क्या ज़रूरत? दरअसल ऐसा विश्लेषण हमें ठहरे से दिखने वाले हमारे समाज के आन्तरिक गतिविज्ञान के तमाम अनछुए पहलुओं को समझने का, उसके प्रबुद्ध तबके के मानस की परतों को जानने का एक मौका देता है। अगर एक पारखी की तरह हम उन तमाम छोटी-छोटी धड़कनों, स्पन्दनों को जान सकें; तो आने वाले दिनों में ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि हम किसी आसन्न सरगर्मी की भविष्यवाणी भी कर सकते हैं और आमूल परिवर्तन के आन्दोलन से उसे कैसे जोड़ा जाए इसकी रणनीति भी तैयार कर सकते हैं।

सबसे पहले गौर करते हैं आन्दोलन के उरूज के दिनों में, इसमें शामिल होने, न होने या कुछ तीसरा रुख अख्तियार करने को लेकर चली बहसों पर।

1.

“अगर समाज में एक साथ रहने वाले लोगों के समूह में, लूट जीवन के तरीके में शुमार हो जाती है, तब वे समय के साथ उसी के अनुरूप कानूनी व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जो इस पर मुहर लगाती है और एक नैतिक संहिता बनाते हैं जो उसे महिमामण्डित करती है।

—फ्रेडरिक बस्तियात (1801-1850), फ्रेंच अर्थशास्त्री

निवेदिता मेनन, जो इन दिनों जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान पढ़ाती है, ने अपने एक आलेख में आन्दोलन के बारे में अपनी चिन्ताओं को साझा किया था। (मेलटुडे, 24 अगस्त 2011 www.kafila.org) लोकपाल आन्दोलन के प्रति वाम का रुख इस लेख में उनका फोकस था। वाम के अपने मायने स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा था कि वह कुछ सौ लोग ‘जो उनकी अपने समूह/कम्युनिटी का हिस्सा हैं – ऐसे लोग जिनके साथ मैंने विरोध प्रदर्शनों का आयोजन किया है, अभियानों का संचालन किया है, धरने पर बैठी हूं और विभिन्न मसलों पर याचिकाएं भी दायर की हैं’। उनका कहना है कि ‘वाम’ हमेशा ‘अपने आप को ऐसी स्थिति में क्यों पाता है जहां ‘पीपुल/अवाम’ नहीं होते हैं।’

उनका कहना रहा है कि ‘अण्णा हजारे जैसी शख्सियत के इर्दगिर्द खड़े इस जनउभार के दौरान मैंने अपने आप को अपने समुदाय/कम्युनिटी से अधिकाधिक अलग-थलग पाया है’। ‘मैं अपने इर्दगिर्द जनतंत्र के विशुद्ध आदर्शों का आनन्दोत्सव देख रही हूं – यह विचार कि ‘हम लोग’ सम्प्रभु हैं और सियासतदां जनता के सेवक हैं, कि कानूनों को लोगों की ज़रूरतों और मांगों के इर्दगिर्द उभरना चाहिए; जबकि मेरा समुदाय देख रहा है

जातिवादी एवं साम्प्रदायिक मध्यवर्गीयों का विचारहीन जमावड़ा।' आगे वह लिखती हैं कि 'हमारी समस्या यही है कि शुद्धता की हमारी खोज अक्सर गहरी असुरक्षा की अभिव्यक्ति होती है।'

अपने समुदाय एवं अपने विचारों के बीच इस अन्तराल की चर्चा के सिलसिले में वह मिस्र के तहरीर स्क्वायर की चर्चा करती हैं, जहां अवाम को मिली कामयाबी को सभी ने सेलिब्रेट किया था। उनका कहना है कि वहां पर भी सभी किस्म के लोग उपस्थित थे, जिसमें इस्लामिस्ट भी थे, खालिस पूंजीवादी थे, ऐसे लोग भी थे जो अपनी पत्नियों को पीटते हैं और हर किस्म के प्रतिक्रियावादी भी उपस्थित थे। हर जनान्दोलन में ऐसे तमाम लोगों की – जो कहीं–कहीं आपस में अन्तर्विरोधी भी जान पड़ती है – उपस्थिति को रेखांकित करते हुए वह कहती हैं कि सम्पूर्ण शुद्धता और हमारे समग्र सियासी एजेण्डे के साथ बिन्दु दर बिन्दु मेल को अगर अनिवार्य मान लिया जाए तो नारीवादियों के लिए हमेशा ही इतिहास की वेटिंग रूम में जगह मिल पाती।

राजधानी में 'प्रतिवाद एवं प्रतिरोध का दायरा किस तरह इंच दर इंच सिमटता जा रहा है और हम लोग किस तरह पीछे हटने के लिए मजबूर हो रहे हैं' इसकी चर्चा करते हुए वह आगे लिखती हैं कि ऐसी पृष्ठभूमि में 'इन्सानियत का प्रचण्ड सैलाब हमारे सामने नमूदार होता है, जो शान्तिपूर्ण भी है और अहिंसक भी है, जो शहर को अपने आगोश में लेता है। क्या हमें इसका जश्न नहीं मनाना चाहिए?'

सरकारों को जनता के प्रति जवाबदेह बनना चाहिए, यह बड़ा लक्ष्य आन्दोलन द्वारा किस तरह अभिव्यक्त हो रहा है, इसे रेखांकित करते हुए वह आन्दोलन की आत्मप्रश्नेयता और आलोचना के प्रति प्रतिक्रिया/रिस्पॉन्स की तारीफ भी करती हैं। जनलोकपाल के लिए चली पहली भूख हड़ताल में भारतमाता के चित्र की हुई आलोचना के बाद इस

बार बैकड्रॉप के तौर पर महात्मा गांधी के चित्र या जनलोकपाल की देख-रेख करने के लिए पहले दौर में प्रस्तावित 'गणमान्य नागरिकों' की टीम - जिसमें मैगसेसे पुरस्कार विजेता शामिल होंगे - के विवादास्पद होने पर उसका खारिज किया जाना, बाबा रामदेव को हाशिये पर डाल देना, जैसी घटनाओं को वह निरन्तर आत्मसुधार के उदाहरण के तौर पर देखती हैं।

निवेदिता 'भ्रष्टाचार' के इस ताज़े उठे मसले की तुलना आज़ादी के आन्दोलन में 'नमक' के लिए हुए दाण्डी मार्च से करती हैं, जो मसला हर व्यक्ति को छूता है और राज्य की उत्पीड़नकारी व्यवस्था को रेखांकित करता है। वह यह भी मानती हैं कि भ्रष्टाचार के लिए सरकार एवं नौकरशाही को जवाबदेह बनाना एक तरह से कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगाएगा क्योंकि आखिर हर कानून एवं नियम तोड़ने के लिए कार्पोरेट सम्राटों को आखिर सरकारी मुलाजिमों को ही रिश्वत देनी पड़ती है।

अण्णा हजारे के इर्दगिर्द खड़े इस आन्दोलन पर 'गैर-राजनीतिक' या 'राजनीतिक वर्गों का विरोधी' होने के जो आरोप लगते रहते हैं उसे खारिज करते हुए वह कहती हैं कि 'हम लोग सम्प्रभु हैं, और हम जिन्हें संसद भेजते हैं उनसे पूरी जवाबदेही चाहते हैं' यह मांग करने वाले प्रस्तुत आन्दोलन पर ऐसा दोषारोपण उचित नहीं है।

अन्त में वह सरकारी लोकपाल बिल को खारिज करते हुए जनलोकपाल बिल की मांग को लेकर अण्णा हजारे द्वारा दिए गए अल्टीमेटम का इस आधार पर समर्थन करती हैं क्योंकि 'चालीस साल से यह मामला लटका हुआ है और छह बार ऐसा बिल संसद के सामने पेश किया जा चुका है।' याद रहे टीम अण्णा ने पहले ऐलान किया था कि 30 अगस्त तक उन्होंने तैयार किए 'जनलोकपाल बिल' को पारित किया जाए, वरना अण्णा की भूख हड़ताल नहीं टूटेगी।

निवेदिता ने अन्त में लिखा था कि ‘यह ऐसा अवसर है जो सम्भावनाओं से भरा है। जिस तरह राष्ट्रीय आज़ादी को हासिल किए जाने के बाद विवादों की नयी रेखाएं उभरीं और पुराने विवाद भी खड़े हुए, इस अभियान की किसी भी रूप में कामयाबी अधिक विवादों को जन्म दे सकती हैं। जिस तरह ‘‘इंडिया’’ के आगमन ने सम्भावनाओं एवं खतरों के दरवाजें खोले, वही सिलसिला यहां पर भी दोहराया जाएगा। बदलाव की किसी भी परियोजना/प्रोजेक्ट के साथ यह बात अनिवार्य रूप से जुड़ी है।’

2.

पिता के कंधों पर बैठा वह बच्चा अपने हाथों में छोटा सा तिरंगा उठाए था। उसके दोनों गालों पर कूची से तीन रंगों के निशान बनाए गए थे। यह बच्चा अण्णा हजारे के आन्दोलन में शरीक था, लेकिन 'न्यू इंडिया' में इस बच्चे को आप कहीं भी देख सकते हैं –मुंबई के वानखेड़े स्टेडियम में आईपीएल मैच की चकाचौंध देखने आयी भीड़ में। मदर्स डे या फादर्स डे या फिर जन्माष्टमी की भीड़ में। अण्णा हजारे के आन्दोलन ने कुछ और बदलाव किया हो या नहीं, उत्सव और आंदोलन के बीच के अंतर को मिटा दिया है। उनके अभियान में शरीक लोगों के हाथों में तिरंगा, होठों पर वंदेमातरम् और विचारों में राजनीति के प्रति एक अगंभीर किस्म की वितृष्णा महसूस की जा सकती है।

('जनसंगठन का कफन-दफन' बीबीसी ब्लॉग में राजेश जोशी)

मेरे एक करीबी दोस्त किशोर झा ने, जो अपने छात्र जीवन में दिल्ली की क्रान्तिकारी छात्र राजनीति में एक समय अपनी अलग पहचान बनाने में कामयाब 'प्रोग्रेसिव स्टुडेंट्स यूनियन' से उसकी स्थापना के समय से जुड़े थे, और जो इन दिनों एक सामाजिक संस्था में कार्यरत है, निवेदिता मेनन द्वारा उठाए गए सवालों के सन्दर्भ में चन्द बातें पेश करते हुए लिखा था :

'मुझे लगता है कि निवेदिता का पहला सवाल (कि हम लोग वहां क्यों नहीं होते जहां लोग होते हैं) निश्चित ही एक वाजिब सवाल है और वाम के तमाम लोग लम्बे समय से इस पर सोच रहे हैं। वह इस बात से सहमत होगी कि यह नया प्रश्न नहीं है और यह प्रश्न

हमेशा उठता है जब हम किसी मुद्दे पर लोगों की लामबन्दी देखते हैं और सोचते हैं कि हम लोग ऐसे मुद्दे को क्यों नहीं उठा पाते हैं? मण्डल विरोधी आन्दोलन के शुरुआती दिनों में भी हम लोग अक्सर इस सवाल पर बात करते थे और कभी-कभी इस बात से परेशान होते थे कि तमाम कोशिशों के बाद हम लोग अधिक से अधिक सौ लोग जुटा पाते हैं और अब हजारों छात्र सड़कों पर हैं। निश्चित ही मण्डल विरोधी या मन्दिर के हक़ में खड़े आन्दोलन के बारे में पोजिशन लेना कठिन नहीं होता मगर मामला उतना आसान नहीं रहता जब हम मुद्दे से (उदा. भ्रष्टाचार) सहमत हों। मेरे लिए सवाल यही है कि वाम ऐसे मुद्दे क्यों नहीं उठा पाता जो लोगों के लिए महत्वपूर्ण हों और न कि यह कि वह ऐसे आन्दोलनों में शामिल क्यों नहीं होता जो क, ख या ग द्वारा शुरू किए गए हों। मामला उतना सीधा भी नहीं होता। वाम ने अक्सर लोगों को बढ़ती अनाज की कीमतें या महंगाई पर लामबन्द करने की कोशिश की है मगर उसे कभी लोगों या मीडिया द्वारा इतना जबरदस्त रिस्पॉन्स नहीं मिला।

इसके कई कारण हो सकते हैं। मैं यह नहीं कहूंगा कि अण्णा एवं उसकी टीम के पास वाम की तुलना में बेहतर सांगठनिक क्षमता है। वे अपने आप को बेहतर प्रोजेक्ट कर पाने की स्थिति में हैं और मुद्दे ने लोगों को कहीं छुआ है (एक हद तक इसका श्रेय मीडिया को जाता है) यह कहना भी पूरी तरह सही नहीं होगा कि वाम हमेशा ही असफल रहा है जहां लोग आन्दोलित हुए हों। भारत के कई हिस्सों में - जमीन अधिकार जैसे अधिक बड़े मसलों पर वाम लोगों को संगठित कर रहा है। (उम्मीद है कि वह उन्हें जनान्दोलन मानेंगी भले ही 24X7 चैनलों द्वारा संख्या बढ़ा कर उनके बारे में समाचार नहीं दिए जा रहे हों)''

जनलोकपाल आन्दोलन के प्रति अपने आलोचनात्मक रवैये को स्पष्ट करते हुए वह आगे लिखते हैं :

''किसी आन्दोलन को वास्तविकता से अधिक प्रोजेक्ट किए जाने की स्थिति, जब समाज का एक हिस्सा भी उसे 'आज़ादी की दूसरी लड़ाई मानता हो' ऐसी स्थिति में यह अधिक महत्वपूर्ण और सार्थक हो जाता है कि हम उसके प्रति अपनी आलोचनात्मक राय को उजागर करें। कुछ लोग यह तर्क देंगे कि अगर मुद्दा सही है तो क्यों न उसमें शामिल हुआ जाए? लेकिन मुझे नहीं लगता ऐसा सम्भव है। सबसे बेहतर विकल्प यही है कि हम कहें कि हम भ्रष्टाचार के खिलाफ हैं, हम लोग एक सख्त लोकपाल बिल चाहते हैं, हम जवाबदेह सरकार चाहते हैं लेकिन यह कोई ज़रूरी नहीं कि हम उसमें सक्रिय ढंग से शामिल हों।''

अण्णा के समर्थन में एवं सरकार के अहंकार के खिलाफ लोगों के सड़कों पर उतरने का विश्लेषण करते हुए वह लिखते हैं कि ''लोग भ्रष्टाचार के तमाम काण्डों से क्षुब्ध हैं और अब जब उन्हें मौका मिल रहा है, उसे अभिव्यक्त कर रहे हैं।'' मगर साथ में वह इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि यह कोई ज़रूरी नहीं कि सड़कों पर उतरे इन लोगों के सहारे ''राजधानी में घटते जनतांत्रिक दायरे के संघर्ष को लड़ा जा सकता है।''

उनके मुताबिक ''मैं ऐसी किसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता जब वाम इससे जुड़े और इस आन्दोलन को जनतांत्रिक दायरों के संकुचन के खिलाफ मोड़ दे। ...इसलिए तहरीर स्क्वायर के साथ इसकी तुलना करना उचित नहीं होगा।'' प्रस्तुत आन्दोलन में वाम की असहभागिता की तुलना आज़ादी के आन्दोलन में वाम द्वारा की गयी ऐतिहासिक भूलों से करने से बचते हुए वह लिखते हैं कि ''मुझे इसकी ज़रूरत नहीं दिखती कि ऐसी तुलना की जाए।...दरअसल टीम अण्णा द्वारा इस आन्दोलन को आज़ादी की दूसरी लड़ाई कहना या इसे क्रान्ति कहना तथा मीडिया द्वारा इसी बात को प्रोजेक्ट करने से मैं अपने आप को सहमत नहीं पाता। अण्णा आन्दोलन के समावेशी होने के बारे में निवेदिता के लेख के उदाहरणों की चर्चा करते हुए –जिसमें एक दलित युवती को उद्धृत किया गया है – वह

जोर देते हैं कि ''इस आन्दोलन में ऐसा कोई समावेशीपन मैं नहीं देख पाता और मैं इस बात पर सहमत भी नहीं हूं।'' अन्त में वह निवेदिता की इस चिन्ता को साझा करते हुए कि ''मैं इस बात पर सहमत हूं कि अक्सर वाम का लोगों की नब्ज़ से हाथ ढीला पड़ा है और उसे चाहिए कि वह मनरेगा (महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना), सूचना का अधिकार, विस्थापन आदि मसलों पर अधिक सक्रिय हो जिसकी अगुआई एनजीओ टाइप आन्दोलन कर रहे हैं।'' निवेदिता अपने आलेख की शुरुआत में स्वतंत्र वाम के जिन ''कुछ सौ लोग 'जो उनकी अपने समूह/कम्युनिटी का हिस्सा हैं'' की बात करती हैं, उनका उल्लेख करते हुए किशोर कहते हैं कि ''मुझे ऐसे लोगों की अधिक उपयोगिता आन्दोलन को आलोचनात्मक ढंग से देखने में तथा बहस मुबाहिसा खड़ा करने में प्रतीत होती है भले ही वह रामलीला मैदान में उपस्थित न हों।''

3.

अण्णा हजारे के समर्थन में जुटी भीड़ में यह समझदारी काफी प्रचलित है कि जनतंत्र का मतलब होता है ''जन की इच्छा''। चूंकि लोगों में काफी भिन्नताएं हैं, जन की इच्छा का अक्सर यही मतलब निकलता है कि बहुमत क्या चाहता है, जिसमें अन्य कोई मसला विचारणीय नहीं समझा जाता है। यह एक किस्म का बहुसंख्यकवादी अर्थात झुण्डवादी जनतंत्र (Majoritarian Democracy) है, जिसके बारे में क्लासिकीय ग्रीकों से लेकर महात्मा गांधी तक सभी चिन्ता प्रगट कर चुके हैं क्योंकि इसका अर्थ यह भी निकल सकता है कि बहुमत कभी अल्पमत के अधिकारों को कुचलने का भी निर्णय ले। इसके बरअक्स जिसे उदार जनतंत्रा (Liberal Democracy) कहा जाता है, उसकी चर्चा होती है। लिबरल जनतंत्र का अर्थ यही निकलता है कि यहां अल्पमत के अधिकारों को मद्देनज़र रखते हुए बहुमत की इच्छा की बात की जाएगी, और ये ऐसे अधिकार होंगे जो संवैधानिक, न्यायिक एवं अन्य ढंग से सुरक्षित किए जाएंगे।

(कान्ति बाजपेयी, विच डेमोक्रेसी वी वान्ट?, टाइम्स ऑफ इण्डिया)

वाम आन्दोलन से जुड़े विभिन्न लोगों – जिनमें पुणे के अभय शुक्ला, नागपुर के अरविन्द घोष, पोस्को प्रतिरोध समिति के असित दास, माईनिंग ज़ोन पीपुल्स सॉलिडैरिटी ग्रुप के बिजू मैथ्यू, पत्रकार किरण शाहीन, कैम्पेन फॉर सरवायवल एण्ड डिग्निटी के शंकर गोपालकृष्णन, कष्टकरी

संगठन की शिराज बलसारा आदि के नाम हैं – ने 'जन लोकपाल बिल' के लिए अण्णा हजारे की भूख हड़ताल के दौरान हस्ताक्षर अभियान के मकसद से एक अपील 'एक महान अवसर, एक गम्भीर खतरा' (A Great Opportunity, A Serious Danger) शीर्षक से जारी की थी, जिसमें 'अण्णा हजारे आन्दोलन के सन्दर्भ में उभरने वाली दो आम प्रतिक्रियाओं की बात करते हुए एक तीसरे रुख पर जोर' दिया गया था। अपील को लगभग पूरी तौर पर यहां पेश किया जा रहा है :

कुछ लोग इस परिस्थिति को मध्यवर्ग द्वारा संचालित 'शहरी पिकनिक' कह कर खारिज करते हैं जबकि अन्य, जिनमें मुख्यधारा की मीडिया शामिल है कह रहे हैं कि 'जनता की सत्ता' कायम करने वाला यह इन्क़लाबी आन्दोलन है। इसी किस्म का विभाजन हम प्रगतिशीलों एवं सामाजिक बदलाव के प्रति सरोकार रखने वालों में भी देख रहे हैं। इस विभाजन में कौन कहां खड़ा है, इसी के आधार पर रणनीतियां तय हो सकती है। समस्या यह है कि कोई भी प्रतिक्रिया जो कुछ घटित हो रहा है उस यथार्थ को प्रतिबिम्बित करती नहीं दिखती ।

हम इस बात को नोट करना चाहते हैं कि हमारी पोजीशन प्रस्तुत परिस्थिति में क्या किया जा सकता है इस पर केन्द्रित है और वह सरकार को बचाने के लिए नहीं है। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के बर्बर, भ्रष्ट एवं जनतंत्र विरोधी कदमों की हम भर्त्सना करते हैं; हम भाजपा एवं उसके सरकारों की उन कार्रवाइयों को भी खारिज करते हैं जिसमें वे अपने आप को भ्रष्टाचार के विरुद्ध योद्धा के तौर पर पेश कर रहे हैं। सरकार द्वारा पेश खतरनाक लोकपाल बिल को वापिस लिया जाए और एक ऐसी प्रक्रिया शुरू की जाए ताकि भ्रष्टाचार को शिकस्त देने के लिए जनता के नियंत्रण के प्रभावी संस्थानों को कायम किया जा सके। प्रस्तुत बयान जारी करने का हमारा मकसद उन ग़लत रणनीतियों के प्रति आगाह करना है जो उसी राज्य को मजबूत करती दिखती हैं जिसके

खिलाफ हम संघर्ष करते रहे हैं।

अवसर : यह सही है कि अब तक जारी विरोध प्रदर्शनों पर मध्यम वर्गों का वर्चस्व रहा है, जिन्हें मध्यमवर्ग ने बढ़ा–चढ़ा कर पेश किया है। लेकिन इसका मतलब यह कत्तई नहीं है कि यह प्रक्रिया अर्थहीन हो चुकी है। चूंकि राष्ट्रीय स्तर पर मजदूर वर्ग के बीच कोई संगठित आन्दोलन नहीं है, न वैकल्पिक मीडिया है और न ही अस्तित्वमान व्यवस्था के विकल्प के तौर पर सचेत ढंग से प्रस्तुत नक्शा है, जिसकी वजह से मध्यम वर्ग का आन्दोलन अधिक व्यापक हो सकने की सम्भावना अवश्य है। यही वह वजह है कि हमें चाहिए कि हम इस परिस्थिति को खारिज न करें। जितना अधिक लोग इस व्यवस्था की असलियत उजागर होते देख रहे हैं, और अपने गुस्से का इजहार करते दिख रहे हैं, उतना ही यह अवसर है कि उसे बेपर्द करने का और किसी नयी चीज़ के लिए संघर्ष करने का। जो लोग बदलाव के लिए लड़ते हैं उनके लिए संकट ही नए अवसर उपलब्ध कराता है।

लाज़िम है कि हम उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो इन विरोध प्रदर्शनों और भूख हड़ताल को संसद के भयादोहन (ब्लैकमेलिंग) के तौर पर देखते हैं। इस मुल्क में संसदीय जनतंत्र कभी अत्यधिक सीमित दायरे से आगे नहीं बढ़ सका है। हाल के वर्षों में इस दायरे को भी उन ताक़तों ने अर्थहीन बना दिया है जो फिलवक्त उसकी दुहाई दे रहे हैं। मिसाल के तौर पर विशेष आर्थिक क्षेत्रों वाला अधिनियम संसद में महज एक दिन की चर्चा के बाद पारित किया गया था। आर्थिक सुधारों को भी चोरी छिपे लागू किया गया है। रिटेल अर्थात फुटकर व्यापार में विदेशी पूंजी निवेश पर मुहर लगने वाली है और यूआईडी अर्थात आधार कार्ड देने की योजना आगे बढ़ी है, बिना संसदीय संस्तुति के। आज जब नवउदारवादी कॉर्पोरेट हिमायती नेता अचानक संसद की पवित्रता की बात करने लगे हैं तो इस पर सन्देह होना स्वाभाविक है। जब लोग खुद मानते हों कि यह व्यवस्था

अन्दर तक सड़ी है, तब हमें इस हक़ीकत को यह कह कर हल्का करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि संसद इस समस्या पर विचार करेगी। खतरा संसद में नहीं है, वह कहीं और है।

खतरा : यह हक़ीकत कि लोग गुस्से में है यह निश्चित ही एक अवसर है, लेकिन यहां भी एक जोखिम है क्योंकि इस गुस्से को ऐसी दिशा भी दी जा सकती है जो अस्तित्वमान सत्ता संरचना को मजबूत करे। उदाहरण के लिए, देखें :

- इन विरोध प्रदर्शनों से यही सन्देश सम्प्रेषित किया जा रहा है – भले ही नेतृत्व की रणनीति अलग हो – कि अण्णा हजारे और 'टीम अण्णा' को समर्थन दें। 'पारदर्शिता' के सिद्धान्त के परे, इस जन अभियान में लोगों के जनतांत्रिक संगठन के विचार पर कोई जोर नहीं है (इसके बरअक्स एक ऐसे संगठन पर जोर है जिसे लोगों का 'समर्थन' हो)। यह सवाल लालि्मी हो उठता है कि जो लोग इसमें भाग ले रहे हैं उन्हें जनता की सत्ता कायम करने के लिए कहा जा रहा है या वे 'अच्छे नेता' की ताक़त बढ़ाने के लिए लड़ रहे हैं।

- आन्दोलन की मांग भी, न्यूनतम अर्थों में भारतीय राज्य या समाज के जनतांत्रिकीकरण की बात नहीं करती। जिस जनलोकपाल की बात की जा रही है, वह कुछ किस्म के भ्रष्टाचार को सम्बोधित कर सकता है; लेकिन उसका मकसद राज्य पर लोगों को अधिक नियंत्रण से लैस नहीं करना है।

उसे प्रभावी कदम के तौर पर पेश किया जा रहा है, इस वजह से नहीं कि वह जनतांत्रिक है, बल्कि इस वजह से कि वह जनतंत्र एवं राजनीति/सियासत के 'ऊपर' स्थित होगा।

जिस तरह अण्णा एक अच्छे व्यक्ति हैं जिन्हें समर्थन की ज़रूरत है, इसी तरह जनलोकपाल बिल भी अच्छे लोगों से बनेगा, जो सत्ता सम्भालने लायक होगा और जो उसे राज्य की 'सफाई' में लगा देगा।

- इस विरोध प्रदर्शन में शामिल होने वाले लोग मीडिया के चलते इसमें शामिल हो रहे है। एकाध–दो अपवादों को छोड़ कर लामबन्दी में किसी केन्द्रीय संगठन की कमी दिखती है। नतीजतन जहां नेतृत्व के लोग लोकप्रिय संघर्ष एवं जनतांत्रिक सिद्धान्तों की बात करते हैं, उन पर हावी होता है यह विचार कि मौजूदा सत्ताधारियों को निशाना बनाया जाए और उसके स्थान पर अधिक 'स्वच्छ' संस्था कायम की जाए।

इन सबका नतीजा यही होता दिखता है कि 'भ्रष्टाचार' को बहुत सीमित तरीके से परिभाषित किया जाता है, जिसके मायने होता है, कानून के उल्लंघन से फायदा उठाना। इस आन्दोलन का भी अहम सन्देश है : नियमों पर यकीन करो, राज्य पर यकीन करो, लोकपाल पर यकीन करो; असली मसला यही है कि अच्छे नेताओं को तलाशा जाए और उन पर विश्वास किया जाए।

निश्चित ही यह कोई जनतांत्रिक सन्देश नहीं है, यह एक जनतंत्रविरोधी सन्देश है। भारत में इस वक्त़, वह खतरनाक भी है। इस देश में बर्बरता, नाइन्साफी और उत्पीड़न महज कानून के उल्लंघन का नतीजा नहीं है। दरअसल, उसका अधिकतर भाग इसी वजह से घटित होता है क्योंकि कानून बना हुआ है। हमारी राज्य मशीनरी ने इस बात को स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि वह नरपक्षी निजी पूंजी की चाकर है। भ्रष्टाचार में हाल में आयी तेजी का यही सबसे बड़ा कारण है : सुपर मुनाफे के ज़रिए पैसे का संग्रहण जिसे बाद में राज्य को खरीदने और अधिक सुपर मुनाफे के लिए किया जा सकता है। कभी कभी इसे किसी कानून का उल्लंघन कहा जाता है, जिसे 'घोटाला' कहा जाता है, लेकिन ऐसे भी मौके आते हैं, जैसे कि

अधिकतर आर्थिक सुधारों के दौरान, जहां कानून ही बदल दिया जाता है। विशेष आर्थिक क्षेत्र (स्पेशल इकोनोमिक ज़ोन – सेज़) अधिनियम एक अच्छा उदाहरण है। इसने पूरे मुल्क में जगह–जगह जमीनों को छीनने के सिलसिले को तेज किया था जो वैश्विक आर्थिक संकट के चलते ही धीमा हो सका था; लेकिन आप गौर करेंगे कि 'सेज़' सम्बधित अधिकतर कार्रवाइयों में लोकपाल की निगाह से देखें तो कोई चीज़ 'भ्रष्ट' नहीं थी। हमारे लोग घनीभूत होते पूंजीवादी शोषण और दमन का शिकार हैं। क्या सही ताक़तों के साथ खड़े अच्छे नेता इसे रोक सकते हैं ?

कई लोग यह कहेंगे कि "निश्चित ही नहीं, एक जन लोकपाल सभी मसलों को सम्बोधित नहीं कर सकता।" यह सही हो सकता है, मगर आप गौर करेंगे कि यही सन्देश सम्प्रेषित नहीं हो रहा है। इसके बजाय यही सम्प्रेषित किया जा रहा है कि लोकपाल टाइप समाधान और अण्णा हजारे किस्म के 'अच्छे नेता' अन्याय के खिलाफ लोगों के गुस्से का जवाब हैं। जब नेतृत्व, रामदेव स्टाइल, अपनी मांगों की फेहरिस्त में नये मुद्दे जोड़ने लगता है – जैसे कि भूमि अधिग्रहण को हाल में जोड़ा गया – तब यही खतरनाक सन्देश सम्प्रेषित होता है। ऐसा आन्दोलन न केवल, ऐसे सन्देश के ज़रिए, राज्य को कमजोर करता है, वह राज्य एवं उसके नेतृत्व को अधिक ताकतवर बनाने के लिए लोगों के समर्थन को प्रदान करता है। यही वजह है कि उसे जिन्दल एल्युमिनियम से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तक सभी का समर्थन मिलता है।

क्या किया जा सकता है? यह हक़ीकत कि लोग सरकार के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं इसके मायने यह कत्तई नहीं है कि वह राज्य से मुक़ाबला कर रहे हैं। भारतीय राज्य को – एक राज्य के तौर पर – एक ऐसी लामबन्दी से जिसका प्रमुख सन्देश है कि बदलाव अच्छे नेताओं के ज़रिए मुमकिन होता है, चिन्तित होने की क्या ज़रूरत है ? मौजूदा सत्ताधारी भले ही अपनी कुर्सी पर मंडराते खतरे से चिन्तित हों, मगर व्यवस्था खुद कहीं

भी खतरे में नहीं है। दरअसल, खतरा राज्य या उसकी संस्थाओं को नहीं है, बल्कि उन कोशिशों को है जिनका मकसद समाज में गहरे सामाजिक बदलाव लाना है।

मौजूदा हालात में हमारे सामने जो द्वंद है उसका जवाब यह नहीं है कि हम खुले दिल से आन्दोलन से जुड़ें या बिल्कुल चुप हो जाएं।

कुछ ने आन्दोलन के इस दौर के प्रति अपने समर्थन का इजहार किया है, और वह इस कोशिश में भी है कि आन्दोलन अन्य मुद्दों को भी उठाए। नेतृत्व के एक हिस्से की वाम एवं प्रगतिशील मसलों के प्रति सहानुभूति को अक्सर उद्धृत किया जाता है। लेकिन इन विरोध प्रदर्शनों के असली चालक – मीडिया और शहरी अभिजात तबके – ऐसे किसी भी पोजीशन का विरोध करते हैं। हम सिर्फ इस बात की कल्पना ही कर सकते हैं कि क्या होगा अगर यह लामबन्दी अधिक रैडिकल दिशा में मुड़ेगी। वही मीडिया जो आज 'अण्णा ही इंडिया' बोल रहा है तत्काल अपनी भाषा बदल देगा और आन्दोलन बिखर जाएगा। इस हक़ीकत को देखते हुए इस अवस्था में आन्दोलन से जुड़ना अनुत्पादक होगा। लोग इस बात में फर्क नहीं कर पाएंगे कि सामाजिक बदलाव के लिए कौन शक्तियां सक्रिय हैं और कौन मौजूदा व्यवस्था को बचाए रखना चाहती हैं, और अगर व्यवस्थाधर्मी ताक़तें फेल होती हैं, तो वे सामाजिक बदलाव की शक्तियों को भी नुकसान पहुंचाएंगी।

लेकिन इस घड़ी में खामोश रहना मतलब एक अहम वक्त पर अप्रासंगिक होना है। यह बहुत महत्वपूर्ण है कि हम, इस आन्दोलन की जनतंत्र-विरोधी प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए, मौजूदा राज्य की हिमायत न करने लग जाएं। हमारा साफ मानना है कि वे लोग जो सामाजिक बदलाव चाहते हैं उनका नारा संसदीय सर्वोच्चता का नहीं हो सकता।

हमें चाहिए कि हम दो किस्म की हक़ीकत पर अपने रुख को तय करें।

पहला है कि घोटालों का मौजूदा विस्फोट नवउदारवादी नीतियों का प्रत्यक्ष परिणाम है जिन्होंने राज्य को बड़ी पूंजी के नरभक्षी एवं आपराधिक किस्म के उपकरण में तब्दील किया है। आज राज्य के समक्ष खड़ी चुनौती अधिक स्पष्ट है और भ्रष्टाचार उसका एक उदाहरण है। इसलिए, भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष को अर्थव्यवस्था एवं समाज पर लोगों के नियंत्रण के संघर्ष से हट कर लड़ना नामुमकिन है। इसलिए हमारी मांगों का जोर राज्य की संस्थाओं पर लोगों की सत्ता के ऐसे गठन पर होना चाहिए।

दूसरी हक़ीकत यही है कि गुस्से एवं राज्य के प्रति सन्देह का वर्तमान माहौल हमें यह मौका प्रदान करता है कि हम इन मुद्दों को उठाएं और भ्रष्टाचार तथा जिस व्यवस्था के अन्दर हम रह रहे हैं उसके अन्तर्सम्बन्ध को स्पष्ट करें। जितनी अधिक संख्या में राजनीतिक ताकतें, जनसंगठन और जनता के संघर्ष, अपनी पहचान को 'इंडिया अगेन्स्ट करप्शन' से अलग रखते हुए ऐसा कर सकते हैं, उतना ही अधिक यह मुमकिन होगा कि हम इस मौके का इस्तेमाल रैडिकल संघर्षों के निर्माण एवं विस्तार के लिए करें। अगर लोग इस बात को देख पा रहे हैं कि वह सड़ी हुई है तो इस समझदारी को इस जागरूकता में रूपान्तरित किया जा सकता है कि यह सड़ांध भ्रष्टाचार और बेईमान नेताओं से अधिक गहरी है। इस अवसर की यही चुनौती है।

4.

तीन अप्रैल से आठ अप्रैल तक अण्णा के अलावा कोई दूसरी ख़बर प्रमुखता से नहीं चली। इस दौरान चैनलों ने कुल छह हजार क्लिप्स दिखाए, जिनमें से 65 को छोड़ कर बाकी अण्णा के समर्थन में थे। चैनलों के इन क्लिपों की अगर विज्ञापन राजस्व के लिहाज से हिसाब लगाएं तो इसमें करीब एक सौ पचहत्तर करोड़ रुपए का नुकसान हुआ। कह सकते हैं कि अण्णा अनशन के पहले दौर में चैनलों ने इतनी मोटी रकम निवेश कर दिया था, जिसमें भविष्य के लिए स्थायी तौर पर टीआरपी मिलते रहने की सम्भावना थी।...

इस सन्दर्भ में टीआरपी के साथ-साथ एक बड़ा मसला था कि इस दौरान समाचार चैनलों की साख 2 जी स्पैक्ट्रम मामले में पूरी तरह मिट्टी में मिल चुकी थी।... चैनलों के लिए अण्णा का यह अनशन उस क्षतिपूर्ति की तरह था, जिसे मजबूती से पकड़े रहने की स्थिति में खोई हुई साख को वापस लाने की संभावना बनती।

(मुनाफे के खेल में सरोकार का मुखौटा, विनीत कुमार, जनसत्ता, 4 सितम्बर 2011)

'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' की लेखिका अरुन्धती रॉय ने अपने एक आलेख 'आई वुड रादर नॉट बी अन्ना' (मैं अण्णा क्यों नहीं बनना चाहती?) में जन लोकपाल बिल के इर्दगिर्द खड़े कई बिन्दुओं पर विचार प्रस्तुत किए थे (द हिन्दू 22 अगस्त 2011)। उनका मानना है कि 'अण्णा द्वारा अपनाया गया

रास्ता भले गांधीवादी हो, मगर जिन मांगों को वह रख रहे हैं वह किसी भी तरह से गांधीवादी नहीं हैं। सत्ता के विकेन्द्रीकरण को लेकर गांधीजी के विचारों के बरअक्स, जनलोकपाल बिल, एक दमनकारी, भ्रष्टाचार विरोधी कानून है, जिसके अन्तर्गत बेहद सावधानी से चुने हुए लोग एक विशाल नौकरशाही का संचालन करेंगे, जिसके अन्तर्गत हजारों कर्मचारी होंगे, जिन्हें प्रधानमंत्री, न्यायपालिका, संसद सदस्य और ऊपर से नीचे तक सभी नौकरशाही तंत्र, जिसमें निचले स्तर पर तैनात सरकारी अधिकारी भी शामिल होंगे, की निगरानी करने का अधिकार होगा। लोकपाल के पास यह अधिकार होगा कि वह जांच करें, निगरानी करे और मुकदमा भी चलाए। अगर इस बात को छोड़ दें कि उसके पास अपने अलग जेल नहीं होंगे, वह एक स्वतंत्र प्रशासन की तरह काम करेगा, जिसका मकसद होगा पहले से चले आ रहे विशालकाय, गैर–जवाबदेह और भ्रष्ट प्रशासन पर अंकुश रखना। इस तरह हमारे सामने एक के बजाय दो कुलीनतंत्र/अल्पतंत्र होंगे।'

'क्या वह काम करेगा या नहीं इस बात पर निर्भर करेगा कि भ्रष्टाचार को हम कैसे देखते हैं। क्या भ्रष्टाचार सिर्फ क़ानूनियत (Legality) का मामला है, वित्तीय अनियमितता का मामला है और घुसखोरी का मामला है, या एक कुख्यात गैर–बराबर समाज में सामाजिक कार्य सम्पादन का दूसरा नाम है, जिसमें सत्ता अधिकाधिक छोटे अल्पमत के हाथों में केन्द्रित रहती है।

आन्दोलन में इस्तेमाल प्रतीकों की चर्चा करते वह आगे लिखती हैं ''अण्णा की क्रान्ति में नज़र आने वाली कोरियोग्राफी, आक्रामक राष्ट्रवाद और तिरंगे का इस्तेमाल सभी आरक्षण विरोधी आन्दोलन, विश्व कप जीतने पर निकली झांकी और नाभिकीय परीक्षण के बाद हुए आयोजनों से आयातित दिखता है। वह हमें संकेत देता है कि अगर हम इस अनशन का साथ नहीं देते हैं, तब हम 'सच्चे भारतीय' नहीं हैं। 24X7 घण्टे चल रहे चैनलों ने भी तय किया है कि इस मुल्क में अन्य कोई ख़बर नहीं है

जिसको प्रसारित किया जाना ज़रूरी है।'

मीडिया के लिए पीपुल/अवाम कौन है इसे स्पष्ट करते हुए वह आगे लिखती हैं 'यहां पर 'पीपुल/लोग' का अर्थ वही श्रोतावृन्द है जो 74 साल के एक शख्स द्वारा आमरण अनशन करने की घोषणा से उपजे तमाशे में नमूदार हुआ है। यहां ''पीपुल'' वह दसियों हजार लोग हैं जिन्हें हमारे टीवी चैनलों ने लाखों में तब्दील कर दिया है,.. 'सौ करोड़ आवाज़ें एक साथ गूंजी हैं'', हमें बताया जा रहा है। ''अण्णा ही इंडिया है।''

रालेगांव सिद्धी में अण्णा के नेतृत्व में चल रहे 'ग्रामीण विकास' की सीमाओं को उजागर करते हुए वह बताती हैं कि किस तरह अण्णा ने राज ठाकरे के मराठी वर्चस्ववाद का समर्थन किया था और किस तरह 2002 के मुसलमानों के जनसंहार में सूबे की अगुआई करने वाले गुजरात के मुख्यमंत्री के विकास मॉडल की तारीफ की थी।

जनलोकपाल के इर्दगिर्द चल रही यह मुहिम के कर्ताधर्ता 'टीम अण्णा' के सदस्यों की पृष्ठभूमि पर रौशनी डालते हुए वह बताती हैं कि उनमें से कुछ 'यूथ फॉर इक्वालिटी' – जो आरक्षण विरोधी आन्दोलन रहा है – से सम्बद्ध रहे हैं तो कई ऐसे एनजीओ से जुड़े हैं जिन्हें कोका कोला, लेहमान ब्रदर्स जैसी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों से उदारहृदय से फण्ड मिलते रहे हैं। टीम अण्णा के अहम सदस्य अरविन्द केजरीवाल और मनीष सिसोदिया को विगत तीन सालों में फोर्ड फाउण्डेशन से 4 लाख डॉलर मिलने का भी वह जिक्र करती हैं। इण्डिया अगेन्स्ट करप्शन के दानदाताओं में कॉर्पोरेट समूहों से मिले चन्दे का उल्लेख करते हुए वह आगे बताती हैं कि ऐसे लोग उनमें शामिल हैं जो खुद एल्युमिनियम प्लान्ट के मालिक हैं, बन्दरगाहों का निर्माण करते हैं, विशेष आर्थिक क्षेत्र चलाते हैं, रीयल इस्टेट बिजनेस का संचालन करते हैं और जो वित्तीय साम्राज्य चलाने वाले राजनेताओं से नजदीकी से जुड़े हैं, जिनमें से कुछ के खिलाफ भ्रष्टाचार और अन्य

अपराधों को लेकर जांच भी चल रही हैं। वह पूछती हैं कि यह कॉर्पोरेट सम्राट आखिर इतने उत्साही क्यों हैं? वह स्पष्ट करती हैं कि जन लोकपाल बिल की मुहिम तभी आगे बढ़ी जब विकीलिक्स या 2 जी घोटाले का रहस्योद्घाटन हुआ था और कई कॉर्पोरेट सम्राटों के जेल में जाने की सम्भावना दिख रही थी।

उनके मुताबिक ''एक ऐसे वक्त में जब राज्य अपने पारम्परिक कर्तव्यों से विमुख हो रहा है और कार्पोरेशन्स एवं एनजीओ सरकारी कामकाज का संचालन करने लगे है (पानी की आपूर्ति, बिजली, परिवहन, दूरसंचार, खदानें, स्वास्थ्य, शिक्षा); एक ऐसे वक़्त में जब कॉर्पोरेट मिल्कियत वाली मीडिया जो लोगों के कल्पना जगत/तसव्वुर को भी नियंत्रित करने की स्थिति में दिखती है कोई यह सोच सकता है कि ऐसी संस्थाएं – कॉर्पोरेशन्स, मीडिया और एनजीओ को – लोकपाल बिल के दायरे में लिया जाएगा। इसके बजाय, प्रस्तावित बिल उन्हें पूरी तरह बख्श देता है।

''अब किसी अन्य की तुलना में अधिक जोर से नारे लगाते हुए, एक ऐसी मुहिम को प्रोत्साहित करते हुए जिसके निशाने पर बेईमान राजनेता और सरकारी भ्रष्टाचार है, उन्होंने बेहद होशियारी के साथ अपने आप को बचा लिया है। सबसे ख़राब बात तो यह है कि सिर्फ सरकार को ही राक्षस के तौर पर पेश करते हुए उन्होंने अपने लिए एक ऐसे मंच का गठन किया है जहां से वह यह आवाज़ बुलन्द कर सकते हैं कि सार्वजनिक दायरे से राज्य को हटना चाहिए और सुधारों का दूसरा दौर – अधिक निजीकरण, सार्वजनिक अवरचना तथा प्राकृतिक संसाधनों तक अधिक सुगमता – भी शुरू होना चाहिए। अब वह वक़्त दूर नहीं जब कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार को कानूनी बनाया जाए और उसे लॉबिंग शुल्क के तौर पर सम्बोधित किया जाए।''

5.

संविधान को देश के नाम सौंपते हुए डॉ. अम्बेडकर की तीसरी चेतावनी 'नायक पूजा' को लेकर थी। वह इस राजनीतिक संस्कृति को लेकर बेहद चिन्तित थे जहां लोग ''महान लोगों के कदमों पर अपनी आज़ादियां न्यौछावर करते थे या उन पर इस तरह यकीन करते थे कि वह उनकी संस्थाओं को अन्दर से खोखला कर सकें।''...यह चेतावनी अन्य किसी मुल्क की तुलना में भारत की जनता के सन्दर्भ में सबसे अधिक ज़रूरी थी क्योंकि यहां भक्ति, या जिसे भक्ति का मार्ग कहा जा सकता है, वह अन्य मुल्कों की तुलना में यहां की राजनीति में काफी काम करता है, ऐसा अम्बेडकर का कहना था। उन्होंने आगे कहा कि भक्ति या धर्म में नायक पूजा से आत्मा को मुक्ति मिल सकती है, मगर राजनीति में, भक्ति या नायक पूजा, पतन और अन्तत: अधिनायकवाद में ही परिणत हो सकता है।

(अम्बेडकर्स वे एण्ड अन्ना हजारेज़् मेथड्स, प्रो. सुखदेव थोरात, द हिन्दू 23 अगस्त 2011)

चर्चित अर्थशास्त्री प्रभात पटनायक ने अपने आलेख 'मेसियानिजम वर्सस डेमोक्रेसी' ('मसीहाई बनाम जनतंत्र' द हिन्दू 24 अगस्त 2011) में अण्णा हजारे को सर्वोच्च नेता पद स्थापित करने वाले इस आन्दोलन की जनतंत्र विरोधी प्रवृत्तियों की विवेचना की थीं। उनका कहना है कि 'विशिष्ट किस्म की यह राजनीति, जिसे हम 'मेसियानिजम' (मसीहाई) कह सकते हैं, सारत: जनतंत्र विरोधी है। यह हक़ीकत कि इसने लोगों के एक हिस्से को आन्दोलित किया है ...यह हमारे लिए गम्भीर चिन्ता का विषय होना

चाहिए, क्योंकि यह हमारे समाज की पूर्वआधुनिकता और हमारे जनतंत्र की जड़ों के खोखलेपन को ही रेखांकित करता है।''

वह आगे कहते हैं कि ''जनतंत्र का मतलब समाज के मामलों को आकार देने के लिए लोगों को कर्ता (Subject सब्जेक्ट) की भूमिका प्राप्त होना। वे न केवल समय-समय पर विधायिकाओं के लिए अपने प्रतिनिधि चुनते हैं, बल्कि प्रदर्शनों, हड़तालों, सभाओं एवं रैलियों के ज़रिए सक्रिय ढंग से हस्तक्षेप कर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को अपने मूड से अवगत कराते हैं। यह तभी सम्भव हो सकता है, लोगों का पर्याप्त जानकार होना आवश्यक है। आम सभाएं जहां नेतागण मुद्दों पर रौशनी डालते हैं, मीडिया रिपोर्टों, लेखों, चर्चाओं के ज़रिए यह सुनिश्चित भी किया जाता है। समूची कवायद का मकसद होता है अवाम की कर्ता भूमिका को बढ़ावा देना, जहां नेता महज उत्प्रेरक (फेसिलिटेटर) की भूमिका में होते हैं। करिश्माई नेता भी अपने आप को लोगों से प्रतिस्थापित नहीं करते हैं, वह करिश्माई इसीलिए समझे जाते हैं कि कर्ता भूमिका निभाने के लिए सूचना हासिल करते लोग, नेताओं पर यकीन करते हैं।''

उनके हिसाब से 'मसीहाई एक तरह से सामूहिक कर्ता, पीपुल/अवाम, को व्यक्तिगत कर्ता से अर्थात मसीहा से प्रतिस्थापित करता है। लोग भले ही अच्छी खासी तादाद में शामिल हों और बड़े उत्साह एवं उमंग से मसीहा द्वारा ली गयी गतिविधियों का जय-जयकार करें, जैसा कि रामलीला मैदान से आ रही ख़बरें बताती हैं, लेकिन यह सब वे दर्शक के तौर पर करते हैं। कार्रवाई/एक्शन मसीहा का होता है; लोग महज उत्साही एवं पक्षधर समर्थक और चीयरलीडर्स होते हैं। ...जब वे रामलीला मैदान पर इकट्ठा होते हैं तो इस अवसर का इस्तेमाल उनके प्रबोधन के लिए नहीं किया जाता, न उन्हें बताया जाता है कि सरकारी लोकपाल बिल एवं जनलोकपाल बिल में बारीकी में क्या फर्क है ताकि वह विवेकपूर्ण ढंग से फैसला ले सकें। उल्टे कोशिश यही रहती है कि उनका प्रबोधन किए बगैर उनमें

जोश भर देने की... 'अण्णा इज इंडिया या इंडिया इज अण्णा' इसी का प्रतिबिम्बन करता है।''

मसीहाई राजनीतिक गतिविधि किस तरह लोगों को सुन्न बना देती है इसकी चर्चा करते हुए वह आगे लिखते हैं कि 'जिस तरह बॉलीवुड की फिल्म में हीरो अकेले ही विलेन का खात्मा कर देता है, उसी तर्ज पर मसीहाई गतिविधि में 'फाइटिंग' का समूचा काम अर्थात कर्ता की भूमिका मसीहा को सौंपी जाती है, लोगों की उपस्थिति महज ताली पीटने के लिए होती है।.... जब टीम अण्णा अपने आप को 'पीपुल/अवाम' के तौर पर सम्बोधित करती है (अपने बिल को 'पीपुल्स बिल' कहना या अपने नज़रिये को 'पीपुल्स' का नज़रिया कहना) वह एक तरह से यही बात सम्प्रेषित करती है कि मसीहाई ही जनतंत्र है।'' उनके मुताबिक ''अगर अण्णा ही पीपुल/अवाम है, तो जनतंत्र, जहां लोग ही सर्वोच्च होते हैं, उसका तकाज़ा है कि किसी अन्य संस्करण की तुलना में अण्णा के बिल को ही पारित किया जाए... संसद पर लोगों की सर्वोच्चता का अर्थ फिर यही निकलता है कि अण्णा की आवाज़ संसद पर हावी है।'' मसीहाई का अर्थ यही निकलता है कि 'अण्णा के बिल को ही संसद को पारित करना पड़ेगा।'

अपने आलेख के अन्त में वह पूछते हैं: ''अगर लोग 'मसीहाई' को 'जनतंत्र' के बरअक्स चुनते हैं, तब इसमें गलत क्या है ? दरअसल यह कोई ज़रूरी नहीं कि रामलीला मैदान में पहुंचने वाले या महानगरों में अण्णा के समर्थन में जुलूस में जाने वाले लोगों को मुल्क की 'अवाम' में शुमार किया जाए और यह खतरनाक होगा अगर हम दोनों को समकक्ष रखें। इसके अलावा, अगर किसी मुकाम पर लोगों का बहुमत किसी मसीहा को संसद से ऊपर स्थापित करने की कोशिश करता है, तो यह कोई कारण नहीं बनता कि हम संवैधानिक व्यवस्था को बदल दें, जिस तरह किसी खास वक्त़ पर अगर बहुमत धर्मनिरपेक्षता का परित्याग करना चाहे, तो इसका मतलब यह नहीं होगा कि हम उसे स्वीकारें। अगर सरकार

कार्यसाधकता के नाम पर मसीहाई कबूल करती है, तो इसका मतलब होगा संविधान की मूल भावना का उल्लंघन और लोकतंत्र को कमजोर करना। इसके अलावा, ऐसी अनुमति से बहुरंगी (अर्द्धधार्मिक) किस्म के मसीहा उग आएंगे, जो लोगों को अपने वश में रखने के लिए आपस में होड़ मचाएंगे या एक दूसरे से गठजोड़ कायम करेंगे।''

6.

अण्णा हजारे को मिल रहे समर्थन का बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के युवा कार्यकर्ताओं का है। यह कांग्रेस का आरोप नहीं है बल्कि भाजपा की वरिष्ठ नेता सुषमा स्वराज की स्वीकारोक्ति है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हजारे की मुहिम में संघ की भूमिका के बारे में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। उन्होंने रेखांकित किया कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 'इण्डिया अगेन्स्ट करप्शन' का हिस्सा है, वही संगठन जिसके बैनर तले एक मजबूत लोकपाल बिल लाने की बात की जा रही है। उन्होंने इस बात को जोड़ा कि संघ न केवल गुप्त समर्थन प्रदान कर रहा है बल्कि आधिकारिक तौर पर संघ की छात्र शाखा अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद द्वारा गठित 'यूथ अगेन्स्ट करप्शन ' की तरफ से लामबन्दी में भी लगा है।

(इज आरएसएस रनिंग द अन्ना शो? - इफ्तिखार गिलानी, तहलका, 18 अगस्त 2011)

मेल टुडे (अगस्त 26, 2011) के अपने आलेख में राजेश रामचन्द्रन सिविल सोसायटी को संसद के ऊपर बताने की अण्णा आन्दोलन से निःसृत प्रवृत्ति में 'संविधान के पुनर्लेखन के संघ परिवार के एजेण्डे' को फलीभूत होता देखे थे। उनके हिसाब से भ्रष्टाचार के खिलाफ इसके पहले चले जे.पी. आन्दोलन या वी.पी.सिंह आन्दोलन ने जिस तरह संघ परिवार की संकीर्ण राजनीति के लिए रास्ता सुगम किया था, वही परिणति अण्णा आन्दोलन की भी होने वाली है। वह बताते हैं कि किस तरह राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार के दौरान जब भ्रष्टाचार के एक-एक काण्ड उजागर हो रहे थे, मृत

सैनिकों के लिए मंगाये गये ताबूतों में करोड़ों के वारे न्यारे हुए थे, सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों का माटी के मोल निजीकरण किया जा रहा था, यहां तक कि संघ ने खुद तत्कालीन प्रधानमंत्री के दामाद रंजन भट्टाचार्य को 'संविधानेतर सत्ता' घोषित किया था, मगर तब किस तरह आज के तमाम 'योद्धा' मौन थे; 'किसन बाबुराव हजारे रालेगांव सिद्धी में जमे थे, अरविन्द केजरीवाल परिवर्तन एनजीओ चला रहे थे।' मगर जब 2009 के चुनावों में भाजपा की दुर्गत हुई, उसके सीटों की संख्या 147 से 115 तक पहुंची, तब मुद्दों की तलाश में रहने वाली पार्टी के हाथों भ्रष्टाचार का मुद्दा आया। प्रस्तुत आन्दोलन की रूपरेखा तैयार करने में संघ परिवार से सम्बद्ध लोगों, संगठनों की शुरुआत से सक्रियता को भी वह रेखांकित करते हैं। वह इस बात का भी विशेष उल्लेख करते हैं कि 27 फरवरी को रामलीला मैदान में जनलोकपाल बिल को लेकर पहली आम सभा में अरविन्द केजरीवाल, अण्णा हजारे के साथ रामदेव, गोविन्दाचार्य, सुब्रह्मण्यम स्वामी, राम जेठमलानी तथा संघ परिवार के करीबी कई अन्य मौजूद थे।

संघ परिवार के करीबी पूर्व इण्टेलिजेन्स ब्यूरो प्रमुख अजित डोवाल द्वारा संचालित थिंक टैंक 'विवेकानन्द इण्टरनेशनल फाउण्डेशन' में अप्रैल 1–2 को आयोजित सेमिनार के हवाले से वह बताते हैं कि किस तरह वहां 'भ्रष्टाचार विरोधी मोर्चा' का संरक्षक रामदेव को तथा कन्वेनर गोविन्दाचार्य को बनाया गया, जिसके सदस्य के तौर पर संघ विचारक एस गुरुमूर्ति और अजित डोवाल बने। अरविन्द केजरीवाल ने भी इस सेमिनार में शिरकत की थी। प्रस्तुत सेमिनार के कुछ समय बाद 12 मई को अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद द्वारा गठित 'यूथ अगेन्स्ट करप्शन' का भी वह उल्लेख करते हैं। अन्त में वह इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि अगस्त माह में जब रामलीला मैदान में अण्णा हजारे का अनशन चल रहा था, तब सुदूर दुमका से यह ख़बर भी आयी थी कि परिषद के गुण्डों ने वहां के एक मिशनरी स्कूल पर हमला किया क्योंकि उसने हजारे के समर्थन में स्कूल को बन्द नहीं किया था।

परदे के पीछे आन्दोलन की रूपरेखा तैयार करने में, उसके लिए फैसिलिटेटर/उत्प्रेरक की भूमिका में संघ या उसके आनुषंगिक संगठन दिखते ही हैं, आधिकारिक तौर पर भी संघ नेतृत्व ने 'अण्णा के समर्थन' का प्रस्ताव उज्जैन की बैठक में पारित किया बल्कि कई सारे कदमों के ज़रिए अण्णा की मुहिम से जुड़ने की कोशिश जारी रखी।

वैसे जिन लोगों ने दिल्ली के रामलीला मैदान पर 12 दिन जारी 'अण्णा लीला' को करीब से देखा है, वह इस बात की ताईद कर सकते हैं कि संघ एवं उसके आनुषंगिक संगठनों ने इस विरोध प्रदर्शन का अपने हक में बखूबी इस्तेमाल किया। मिसाल के तौर पर, उन्होंने समूची भीड़ में अपने सैकड़ों कार्यकर्ता तैनात किए थे, जिन्हें समय-समय पर लगाए जा रहे 'वन्दे मातरम' के उनके नारों से चिन्हित किया जा सकता था। इस सन्दर्भ में 'समाजवादी जनपरिषद' के कार्यकर्ताओं का अनुभव आंखें खोलने वाला है। रामलीला मैदान पर जब वह 'भ्रष्टाचार से कैसे लड़े' शीर्षक अपनी पुस्तिका वितरित कर रहे थे, जिसका विमोचन खुद प्रशान्त भूषण ने कुछ समय पहले किया था, वहां 'इण्डिया अगेन्स्ट करप्शन' का बिल्ला लगाए संघ के स्वयंसेवकों ने ऐसा करने से उन्हें तत्काल मना किया था।

याद रहे कि भाजपा के पूर्व सेक्रेटरी गोविन्दाचार्य ने खुद रामलीला मैदान पहुंच कर इस बात को साफ बताया था कि 'भीड़ का दस फीसदी हिस्सा संघ कार्यकर्ताओं का है।' एक पत्रकार सम्मेलन में विश्व हिन्दू परिषद के अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष अशोक सिंघल ने यह भी उजागर किया था कि रामलीला मैदान में 'उनके लोगों' ने लाखों लोगों के लिए खाने का इन्तजाम किया था।

एनडीटीवी की एक रिपोर्ट के मुताबिक (1 सितम्बर 2011) भाजपा के युवा मोर्चा के तेजिन्दर पाल को यह जिम्मा सौंपा गया था कि वह कांग्रेस नेताओं के घरों पर प्रदर्शनों के काम का संयोजन करें। रामलीला मैदान पर भोजन

की जो मुफ्त व्यवस्था थी, उसका प्रबन्धन संघ से सम्बधित गोरक्षा इकाइयों ने किया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक वरिष्ठ नेता कुमार विश्वास – जो रामदेव के विरोध प्रदर्शन के वक्त भी मंच संचालन करते थे – वही रामलीला मैदान में अण्णा के मंच संचालन का काम करते थे, उन्हें अक्सर कविताओं को सुनाते या मेहमानों का परिचय कराते देखा जा सकता था।

यह अकारण नहीं था कि जब एक मुस्लिम वक्ता ने 1857 के संग्राम में या आज़ादी की लड़ाई में मुसलमानों द्वारा दी गई कुर्बानियों का विशेष उल्लेख करते हुए आज़ादी के साठ साल बाद भी यहां मुसलमानों की वफादारी को बार–बार संदिग्ध घोषित करने की बात कही, उसके हाथ से तत्काल माईक छीन लिया गया और उसे मंच से उतार दिया गया।

अण्णा की भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम ने भाजपा को नयी संजीवनी प्रदान की है, यह पिछले दिनों स्टार न्यूज–निल्सन सर्वेक्षण में भी उजागर होता है (www.rediff.com, *Thanks to Anna, BJP may thrash Cong in LS polls: Survey*, Last updated on: September 3, 2011 20:33 IST) राजेश रामचन्द्रन की 'भविष्यवाणी' को सही ठहराती प्रस्तुत रिपोर्ट पर नज़र डालना समीचीन होगा :

> प्रस्तुत सर्वेक्षण, जो अण्णा के अनशन समाप्ति की घोषणा के बाद 28 शहरों में सम्पन्न हुआ, जिसमें 9000 लोगों ने भाग लिया, के मुताबिक अगर कल चुनाव होते हैं तो भाजपा को 32 फीसदी वोट मिलेंगे जबकि कांग्रेस को सिर्फ 20 फीसदी वोट पर सन्तोष करना पड़ेगा। अगर दक्षिण को छोड़ दें जिसमें 20 फीसदी सहभागी अभी भी कांग्रेस की हिमायत करते हैं जबकि सिर्फ16 फीसदी भाजपा के साथ हैं, बाकी सभी क्षेत्रों में भाजपा वोटरों की निगाह में नम्बर वन पार्टी बनी है – उत्तर में 40.27 फीसदी, पूर्व में 20.15

फीसदी और पश्चिम में 46.15 फीसदी।

गौरतलब है कि मई 2011 में, जब अण्णा आन्दोलन की हवा नहीं चली थी, तब इसी किस्म के सर्वेक्षण में कांग्रेस को 30 फीसदी वोट मिलने तथा भाजपा को 23 फीसदी वोट मिलने की बात सामने आयी थी।

अण्णा का आन्दोलन और जिस तरह कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार ने उससे निपटा, उसके चलते ऐसे लोग भी कांग्रेस से दूर जाते दिखे हैं, जिन्होंने उसे पिछले चुनाव में वोट दिया था। सर्वेक्षण में शामिल 11 फीसदी लोगों ने –जिन्होंने पिछले चुनाव में कांग्रेस को वोट दिया था, अब उससे दूर खड़े होते दिखे है, जबकि सिर्फ 5 फीसदी लोग –जिन्होंने भाजपा को वोट दिया था – उससे तौबा करते दिखे हैं।

7.

जब आप ने एक बार तय किया कि अण्णा की जंग या लड़ाई आप की है, आप उसी हिसाब से रणनीति बनाते हैं। 'आज तक' चैनल बिल के इर्दगिर्द जारी गतिविधियों को ''अण्णा की अगस्त क्रान्ति'' के तौर पर सम्बोधित कर रहा था, महात्मा गांधी के भारत छोड़ो आन्दोलन के वक्त की तकरीर का बीच-बीच में जिक्र होता था। एक ने अपने रिपोर्टर से पूछा कि क्या हम यह कह सकते हैं कि हम युद्ध के साक्षी है ? युद्ध के लिए सैनिकों की ज़रूरत होती है। ...'आज तक' वहां उसके द्वारा तैनात रिपोर्टरों की सेना की तस्वीरें भी दिखा रहा था। संख्या 50 से ज्यादा थी। इतिहास एवं मिथकों के अन्य लड़ाइयों की भी बात होती रहती थी। आईबीएन 7 ने केजरीवाल को 'अण्णा का अर्जुन' कह कर सम्बोधित किया था।

- (द पीपुल मल्टीप्लायर, मीडिया मैटर्स, सेवन्ती निनान, द हिन्दू, 28 अगस्त 2011)

जनलोकपाल बिल को लेकर 'टीम अण्णा' की अगुआई में चल रही इन सरगर्मियों पर और भी बहुत कुछ लिखा गया है या लोगों की छोटी बड़ी सक्रियताओं से भी सामने आया है।

मुख्यधारा का मीडिया भले ही मौन बरते मगर रामलीला मैदान के अनदेखे एवं अनसुने हाशियों पर हम अल्पसंख्यक एवं हाशिये के समूहों के बीच बढ़ते बेचैनी के स्वरों को आसानी से सुन सकते थे। भले ही रामलीला मैदान पर कायम साम्प्रदायिक सद्भाव की भावना को प्रोजेक्ट करने हेतु

मुस्लिम बच्चों के रमजान का रोजा अण्णा हजारे के हाथों सार्वजनिक तौर पर खोलने की तस्वीरें प्रकाशित हुई थी, मगर दलित, मुस्लिम एवं ईसाई नेताओं से बात करने पर यह स्पष्ट हो रहा था कि आन्दोलन का चेहरा बने लोगों या भीड़ से उठने वाली आवाज़ों से उनमें किस किस्म की बेचैनी घर कर रही है।

इण्डियन एक्स्प्रेस की अपनी रिपोर्ट 'व्हाय द रामलीला सर्ज वरीज् माइनॉरिटीज एण्ड दोज ऑन मार्जिन्स' में सीमा चिश्ती ने इसके बारे में उनके साथ चली अन्तर्क्रिया को साझा किया था (25 अगस्त 2011)। अण्णा की मुहिम को वाजिब ठहराते हुए, या उन्हें गिरफ्तार करने के निर्णय की भर्त्सना करते हुए इन अग्रणियों ने उनके सामने इस बात को स्पष्ट किया था कि इन सक्रियताओं में 'जनतांत्रिक आजादी और अधिकार को सुरक्षित रखने वाली संस्थाओं के प्रति ही तिरस्कार दिखाई देता है। टीम अण्णा द्वारा संसद को खारिज किए जाने को वह प्रातिनिधिक राजनीति को ही खारिज करने के तौर पर देखते हैं। वरूण गांधी का रामलीला मैदान पर पदार्पण भी उनकी इन शंकाओं को मजबूती देता है जिसने 2009 के अपने 'मुस्लिम विरोधी भाषण में ''हिन्दुओं पर उंगली उठाने वाले हाथों को ही काट देने की'' धमकी दी थी।

मुस्लिम बुद्धिजीवियों एवं सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं में बढ़ती बेचैनी की छाया उर्दू अख़बारों पर भी दिखती है। वे बताती हैं कि 17 अगस्त को मुम्बई, कानपुर, बरेली, लखनउ और दिल्ली से निकलने वाले 'इन्क़लाब' अख़बार ने समुदाय के तमाम नेताओं से बात की, जिनका सम्मिलित स्वर यही था : ''हम एक सख्त लोकपाल की ज़रूरत से सहमत हैं मगर जिन तरीकों से उसे आगे बढ़ाया जा रहा है, उससे हमारी सहमति नहीं है।''

दरअसल आन्दोलन पर बारीकी से निगाह रखने वाले लोग अण्णा के साथ

जुड़ने वाली शख्सियतों से भी चिन्तित रहे हैं। 'रामदेव फिलवक्त भले ही पीछे हटें हो, मगर श्री श्री रविशंकर एवं उनके आर्ट ऑफ लीविंग के बारे में सवाल हैं और आरक्षण विरोधी 'यूथ फॉर इक्वालिटी' को दिए जा रहे मंच पर भी लोगों के सवाल हैं। आर्ट ऑफ लीविंग से जुड़े युवाओं ने टेक्सास में पिछले दिनों हिन्दू एकता दिवस में सहभागिता की थी। इसके अलावा मंच पर सुब्रह्मण्यम स्वामी भी स्थान पाए जिन्होंने पिछले दिनों एक अख़बारी लेख में यह लिखा था कि मुसलमान अगर अपनी 'हिन्दू विरासत' से इन्कार कर दें तो उन्हें मताधिकार से वंचित किया जाना चाहिए।''

उनके मुताबिक टीम अण्णा के सदस्यों – अरविन्द केजरीवाल, किरण बेदी – पर भी कई सवाल हैं। वे लिखती हैं कि ''केजरीवाल एवं बेदी ने यूथ फॉर इक्वालिटी और आर्ट ऑफ लीविंग के मंचों से भाषण दिए हैं। मिसाल के तौर पर, 1 मार्च 2009 को इन दोनों ने यूथ फॉर इक्वालिटी के सम्मेलन को सम्बोधित कर आतंकवाद और भ्रष्टाचार पर बात की थी। यूथ फॉर इक्वालिटी घटते अवसरों के लिए आरक्षण को जिम्मेदार मानता है।''

अण्णा के अप्रैल अनशन के दौरान तथा अगस्त में रामलीला मैदान के अनशन के वक़्त वहां एकत्रित जनसमूह में 'यूथ फॉर इक्वालिटी' ही नहीं 'क्रान्तिकारी मनुवादी मोर्चा' जैसे संगठनों के कार्यकर्ताओं की उपस्थिति या उनके पोस्टर बैनरों को देखा जा सकता था। इनके कार्यकर्ताओं को मंच मिलने में भी बाधा नहीं आती थी, जहां से वह अपने वर्ण मानसिकता के पूर्वाग्रहों को श्रोताओं के सामने उजागर करते। मानवाधिकार संगठनों तथा अम्बेडकरवादी आन्दोलन के लोगों ने टीम अण्णा के मेम्बरानों से इस सिलसिले में बात की और यह बताया कि किस तरह ऐसे लोगों की मौजूदगी दलित बहुजनों की विशाल आबादी में इस मुहिम को लेकर एक नकारात्मक सन्देश ले जा रही है। विडम्बना ही थी कि टीम अण्णा के सदस्य, जो मंच से आए दिन दहाड़ते थे, उन्होंने ऐसे तत्वों को वहां से हटाने में अपनी असमर्थता बतायी।

मालूम हो कि जब अप्रैल के अण्णा के अनशन के बाद टीम अण्णा एवं सरकार की तरफ से दस सदस्यीय कमेटी का गठन किया गया था, तभी से लोकपाल का मसविदा बनाने वाली कमेटी में दलितों, आदिवासियों या अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि की गैर–मौजूदगी की बात उठी थी। जब अण्णा हजारे के नेतृत्व वाली 'सिविल सोसायटी' के टीम से यह पूछा गया था कि उन्होंने इस पहलू पर गौर क्यों नहीं किया तब इन लोगों ने सारा मामला सरकारी टीम पर डाल दिया था और इस मसले को लेकर अपनी घोर असम्वेदनशीलता का परिचय दिया था। यह अकारण नहीं कि जनलोकपाल को लेकर एक प्रतिक्रिया यह भी आयी है कि राजनीति में दलित पिछड़ों की जब से दखल बढ़ी है तब से 'लोकपाल' नामक डण्डे से इसे दबाने की यह एक किस्म की 'द्विज प्रतिक्रिया' है।

अण्णा हजारे के अनशन के दौरान (24 अगस्त 2011) को दिल्ली के इण्डिया गेट से जन्तर मन्तर तक दलितों, अल्पसंख्यकों एवं हाशिये पर पड़े अन्य लोगों की तरफ से 'ऑल इण्डिया कॉन्फेडरेशन ऑफ एससी/एसटी आर्गनायजेशन्स' की पहल पर 'संविधान बचाओ रैली' का आयोजन किया गया था। डॉ. अम्बेडकर की तस्वीर के साथ चल रहे रैली में शामिल हजारों लोगों ने अण्णा हजारे के तौर–तरीकों की मुखालिफ्त करते हुए यह ऐलान भी किया कि वह प्रधानमंत्री को एक ज्ञापन भी सौंपेंगे ताकि संसद की स्थायी समिति के सामने बहुजन लोकपाल बिल प्रस्तुत करने के लिए समान अवसर मिले।

रैली को सम्बोधित करते हुए परिसंघ के नेता उदित राज ने कहा कि यह सही है कि भ्रष्टाचार एवं महंगाई सभी को प्रभावित करती है, लेकिन इसके खिलाफ संघर्ष के नाम पर डॉ. अम्बेडकर द्वारा बनाए संविधान को कमजोर नहीं किया जा सकता। अनुसूचित जाति/जनजाति, अल्पसंख्यकों के सरोकारों पर जनलोकपाल बिल के मौन की भी आलोचना की गयी। मालूम हो कि प्रस्तावित बहुजन लोकपाल बिल में ''निजी कॉर्पोरेशन्स,

गैर–सरकारी संगठनों को भी लोकपाल के दायरे में लाने की मांग रखी जाने वाली है तथा लोकपाल के गठन में हाशिये के तबकों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं लोकपाल की संस्था के ऊपर संसद की वरीयता जैसे प्रावधानों पर भी जोर दिया जाने वाला है।''

मीडिया जिसने विभिन्न कारणों से वस्तुनिष्ठता के पत्रकारीय मूल्यों का परित्याग करते हुए 'जनलोकपाल बिल' की मुहिम को सफल बनाने का एक तरह से बीड़ा उठाया था, उसने इस अहम रैली की रिपोर्ट देना भी मुनासिब नहीं समझा। उच्च मध्यम वर्ग एवं भद्र जातियों की मानसिकता से लैस कुछ पत्रकारों ने यह मनगढ़न्त कहानी ज़रूर छाप दी कि 'संविधान बचाओ रैली' में शामिल लोगों को पैसे देकर बुलाया गया था।

8.

अण्णा ने मध्यम वर्ग को टोपी पहना दी, हा हा हा
(एक एसएमएस के सन्देश से)

अण्णा हजारे के इर्दगिर्द चली इस मुहिम में मध्यमवर्ग की भूमिका अहम रही है। इसमें ऐसे लोग भी शामिल रहे हैं जो आम तौर पर राजनैतिक विरोध प्रदर्शनों पर नाक-भौं सिकोड़ते रहे हैं और यह फतवा देते रहे हैं कि हड़तालों और प्रदर्शनों पर पाबन्दी लगायी जानी चाहिए क्योंकि इससे लोगों को परेशानी का सामना करना पड़ता है। इसमें कोई दो-राय नहीं कि अण्णा का यह आन्दोलन भारतीय समाज में विगत बीस सालों से आए बदलावों को प्रतिबिम्बित करता है। बीबीसी ब्लॉग पर अपनी मार्मिक टिप्पणी में राजेश जोशी लिखते हैं कि 'जनान्दोलनों को अब जनसंगठन नहीं 'सिविल सोसायटी' चलाती है। अब आन्दोलन के लिए कंधे पर थैला टांगे, चना-लाही खाकर दिन-रात लोगों को गोलबन्द करने वाले कार्यकर्ता की शायद ज़रूरत नहीं पड़ेगी, यह काम इंटरनेट, ट्विटर और फेसबुक से एनजीओ कर रहे हैं।'

एक मोटे अनुमान के हिसाब से चार लाख लोगों ने सोशल नेटवर्किंग साइट 'फेसबुक' पर इस मुहिम का समर्थन किया। 'इण्डिया अगेन्स्ट करप्शन' द्वारा प्रचारित मुंबई स्थित एक नम्बर पर डेढ़ करोड़ से अधिक लोगों ने मिस्ड कॉल किए। हर किस्म की सामाजिक सक्रियताओं से आम तौर पर दूर रहने वाली दक्षिणी दिल्ली में बीस रेजिडेन्ट वेलफेयर एसोसिएशनों ने मोमबत्ती लेकर अण्णा के समर्थन में जुलूस निकाले।

सवाल यह उठता है कि आज का यह मध्यमवर्ग अण्णा का मुरीद

क्यों बना?

याद रहे कि 90 के दशक के पहले का मध्यमवर्ग उन पेशों से अधिकतर जुड़ा था जो राज्य के इर्दगिर्द केन्द्रित थीं – उदाहरण के लिए वकालत, एकाउंटेंसी, चिकित्सा एवं सरकारी सेवा। इस रिश्ते की अपनी अलग अहमियत थी, इसका अर्थ था पहले के मध्यमवर्ग की भारतीय राज्य के बारे में एक समझदारी थी; जनतंत्र की प्रक्रियाओं से वह वाकिफ था। मगर अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध या नब्बे के दशक में जब भारत की अर्थव्यवस्था के दरवाजे खोले गए, आर्थिक उदारीकरण की जिन नीतियों की नींव डाली गयी, उसने निश्चित ही इस स्थिति में गुणात्मक अन्तर डाला। 2005–2006 के एक अध्ययन के मुताबिक भारत के मध्यमवर्ग का 56–62 फीसदी निजी क्षेत्र में रोजगारशुदा है। इसके मायने यही हैं कि भारत का मध्यमवर्ग राज्य के दायरे के बाहर निजी ढंग से सामाजिक गतिशीलता का खाका खींचने में, एक अलग ढंग की ज़िन्दगी का तसव्वुर करने में काबिल है। जाहिर है कि इस मध्यमवर्ग का सबसे कामयाब हिस्सा वह है, जिन्होंने तेजी से बढ़ते कॉर्पोरेट क्षेत्र में एक मुक़ाम हासिल किया है। इस मध्यमवर्ग के लिए कॉर्पोरेट भारत कार्यक्षमता का नमूना/मॉडल है जबकि भारत का राज्य अराजकता का प्रतीक है। यही असंगति/असंवादिता भारतीय राज्य के बारे में उसके नज़रिये को प्रभावित करती है।

इस नए कॉर्पोरेट मध्यमवर्ग के लिए सम्मान एवं पहचान की राजनीति के प्रति – जो इन दिनों भारतीय सियासत के केन्द्र में है – कोई सरोकार नहीं है। इसकी एक वजह इस मध्यमवर्ग के बड़े हिस्से के भारत की भद्र जातियों से सम्बद्ध होने की भी है, जहां शूद्र–अतिशूद्र कहे जाने वाले तबकों से जुड़े लोग अल्पमत में हैं। उनके लिए राज्य का मतलब वह सेवा प्रदाता, जिसे वह टैक्स देते हैं। प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय जैसे शब्दों के उसके लिए कोई मायने नहीं है। नतीजतन, चुनावी राजनीति और

राजनेताओं के प्रति उनके मन में अपार घृणा है। साफ है जनलोकपाल बिल की दो प्रमुख आलोचनाएं – वह अप्रातिनिधिक है और सर्वशक्तिशाली लोकपाल जनतांत्रिक अधिकारों का हनन कर सकता है – उसके लिए मायने नहीं रखतीं।

उसकी सामाजिक जड़ों की ही यह विडम्बना है भ्रष्टाचार के खिलाफ कोई सुसंगत रुख तय करना उसके लिए मुश्किल होता है। क्योंकि यह वही तबका है जिसे भले ही सरकारी दफ्तरों में घूसखोरी का साबका पड़ता हो, मगर एक वर्ग के तौर पर वही इस भ्रष्टतंत्र से लाभान्वित भी होता है। सरकारी दफ्तरों में कार्यरत बाबू, अधिकारी या बड़े–बड़े नौकरशाह क्या इसी तबके से नहीं आते हैं।

प्रख्यात राजनीतिविज्ञानी पार्थ चटर्जी लिखते हैं: (www.kafila.org) ''...इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यमवर्ग, ऊपर से नीचे तक, सरकार में जारी भ्रष्टाचार से सबसे अधिक लाभान्वित होता है क्योंकि वही तबका है जो रोजमर्रा सरकारी मशीनरी का संचालन करता है, जबकि वह अपने आप को भ्रष्टाचार का सबसे अधिक शिकार भी समझता है। रामलीला मैदान में पहुंचने वाले लोग क्या भारत के भ्रष्ट, बेईमान लोगों के रिश्तेदार नहीं हैं। साफहै कोई इस सच्चाई को कबूल नहीं करेगा।

आप मध्यमवर्ग के किसी से इस सिलसिले में जानना चाहें तो उसका जवाब यही होगा कि भ्रष्टाचार वही होता है जिसे 'दूसरे' अंजाम देते हैं। मुझे लगता है कि हमें बेहद गम्भीरता से भ्रष्टाचार (आज के लौकिक अर्थों में) एवं राजनीति के इस सम्मिश्रण/घालमेल पर सोचना चाहिए। मेरा मानना है कि अण्णा को लेकर नज़र आ रहे जुनून के केन्द्र में यही समझदारी काम करती है। भ्रष्टाचार का इस किस्म का चित्रण कि वह ''राजनीति'' (अर्थात मंत्रियों, सांसदों–विधायकों, नौकरशाहों) के दायरे तक सीमित है, इस बात की गारंटी करता है भ्रष्टाचार कभी 'अवाम/पीपुल' को छू नहीं सकता। वह ऐसी

चीज़ है जो दुश्मन को चिन्हित करती है।

मौजूदा भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की आत्मा, उसकी प्रधान नैतिक एवं भावनात्मक ताकत, यही है कि वह गैर–राजनीतिक है। यहां इस बात को दोहराने की ज़रूरत नहीं कि राजनीति का अर्थ यहां सिर्फ संसद, मंत्रियों, सरकारी दफ्तरों आदि तक सीमित है। अण्णा हजारे, प्रशान्त भूषण, अरविन्द केजरीवाल, किरण बेदी राजनीतिक नहीं है। इसलिए वह शुद्ध हैं, अवाम/पीपुल के साथ हैं।'

रालेगांव सिद्धी का 'संयुक्त परिवार'

भ्रष्टाचार विरोधी इस ताज़ी मुहिम के कमाण्डर बने अण्णा हजारे के गांव रालेगांव सिद्धी के विकास की काफी चर्चा चलती है। किस तरह का विकास का मॉडल अण्णा पेश करते हैं ? क्या वह जनता की सक्रिय जनतांत्रिक सहभागिता पर संचालित होता है या हिन्दू पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार के तरह संचालित होता है।

अपनी किताब 'ग्रीन एण्ड सेफ्रन : हिन्दू नेशनेलिजम एण्ड इण्डियन एनवायरोनमेन्टल पॉलिटिक्स' में पत्रकार एक्टविस्ट मुकुल शर्मा ने अण्णा हजारे के कामों की विचारधारा एवं राजनीति की पड़ताल करने की कोशिश की है। भले ही विकासात्मक एवं पर्यावरण सम्बन्धी काम अण्णा के विचारधारात्मक संरचना के केन्द्र में हैं, मगर उनमें अन्य पहलू भी शामिल दिखते है।

'यह एक ऐसी विश्वास प्रणाली है जो ताकत एवं सज़ा पर आधारित है, जिसमें हिन्दू धार्मिक प्रतीकों का खुल कर

इस्तेमाल होता है, सख्त नियम एवं संहिता पर वह अवलम्बित है, जहां राष्ट्रवाद एवं अतिराष्ट्रवाद, 'विशुद्ध नैतिकता एवं जातीय सोपानक्रम, महिलाओं, दलितों, मुसलमानों का हाशियाकरण, सभी बातें इस ग्रामीण पुनर्जीवन की सारवस्तु हैं। अण्णा के प्राधिकार/अथॉरिटी को मानने का आधार वह विश्वास प्रणाली है, जहां उनका अनुकरण करने वाले लोग, आज्ञा पालन अपना स्वाभाविक कर्तव्य मानते हैं और इस पर अमल करनेवाला व्यक्ति शासन करने के अधिकार को स्वाभाविक समझता है। एक पूर्व सरपंच ने बताया कि 'अण्णा जो कहते हैं, हम करते हैं। सारा गांव उनकी बातों को मानता है। अण्णा के आदेशों पर सेना की तरह पालन होता है।'

गौरतलब है कि गांव में पर्यावरण को लेकर ही नियम नहीं बने हैं, लोगों के समूचे सामाजिक-राजनीतिक जीवन को संचालित करने वाले नियमों पर ही गांव चलता है। इन नियमों पर पालन अनिवार्य होता है, नियमों का उल्लंघन करने वाले को सज़ा भी दी जा सकती है। रालेगांव के किसी भी दुकान में बीड़ी या सिगरेट नहीं बेची जा सकती। फिल्म के गाने नहीं सुने जा सकते हैं। सिर्फ धार्मिक फिल्में सन्त तुकाराम आदि देखी जा सकती हैं। रालेगांव में दलित जातियां भी हैं, जिन्हें यहां 'हरिजन' के तौर पर सम्बोधित किया जाता है। एक बड़े संयुक्त परिवार की तरह संचालित इस गांव में दलितों के एकीकरण के दो पहलू हैं। एक तो यही कि चन्द ज़रूरी सेवाओं के लिए उनकी आवश्यकता रहेगी। दूसरा हिस्सा वर्चस्वशाली है, जिसके अन्तर्गत दलितों को ब्राह्मणवादी ढांचे में

समाहित किया जाता है। यह अकारण नहीं कि पिछले 25 साल से रालेगांव में ग्राम पंचायत के चुनाव तक नहीं हुए हैं, जिसे अण्णा नामांकित करते हैं, उसे सरपंच घोषित किया जाता है।

9.

संसद के विशेष आश्वासन के बाद जनलोकपाल बिल को लेकर चल रही मुहिम पर पटाक्षेप हो गया है। अब संसद की स्टैण्डिंग कमेटी उसके सामने प्रस्तुत लोकपाल बिल के विभिन्न मसविदों को लेकर अपनी मुकम्मल राय बनाएगी और संसद के सामने संशोधित बिल पेश करेगी।

बीते चन्द दिनों की घटनाएं इस बात की गवाह हैं कि जनता लूट–खसोट के सिलसिले से मुक्ति चाहती है और भ्रष्टाचार मुक्त स्वच्छ शासन–प्रशासन चाहती है और इसलिए वह सड़क पर उतरने को भी तैयार है। बेईमानी के प्रतीक बने चन्द लीडरानों को सलाखों के पीछे भेजने की रस्मी कार्रवाई से कत्तई सन्तुष्ट नहीं है। प्रश्न उठता है कि नेताशाही–अफसरशाही–पूंजीशाहों की मिलीभगत से चल रही खजाने की इस लूट पर, जनता की गाढ़ी कमाई के जारी निजीकरण पर क्या कोई मुकम्मल रोक लगायी जा सकती है ?

क्या एक और कानून बना कर या संस्था खड़ी करके इससे निपटा जा सकता है? जानकार बताते हैं कि आज़ादी के बाद 64 से अधिक कानून बने हैं या नियामक संस्थाएं बनी हैं, जांच एजेंसियां कायम की गयी हैं, ताकि भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाए। इरादे भले ही नेक रहे हों, मगर पाते यही हैं कि जितनी भी दवा हो रही है, भ्रष्टाचार का मर्ज बढ़ता ही जा रहा है।

अगर हम बहुजन लोकपाल बिल को जोड़ दें तो लोकपाल को लेकर पांच किस्म के बिल हमारे सामने हैं। एक सरकारी लोकपाल बिल, दूसरा टीम अण्णा द्वारा तैयार किया गया जन लोकपाल बिल, 'नेशनल कैम्पेन फॉर पीपुल्स राइट टू इन्फोर्मेशन (एनसीपीआरआई) की तरफ से अरुणा रॉय,

निखिल डे द्वारा पेश एक बिल, जनसत्ता के डॉ. जयप्रकाश द्वारा तैयार एक मसविदा बिल।

सरकारी लोकपाल बिल तो अत्यधिक कमज़ोर है, जो भ्रष्टाचार करने वाले को छह माह की सज़ा की बात करता है, मगर उस पर आरोप लगाने वाले को (अगर वे गलत साबित हुए तो) दो साल की सज़ा सुनाता है। निश्चित ही ऐसे कमज़ोर उपकरण से काम नहीं चलेगा। उसे बदलना ही होगा। वैसे पिछले दिनों भ्रष्टाचार समाप्त करने की लड़ाई में टीम अण्णा द्वारा पेश जनलोकपाल के मसविदे की अधिक चर्चा रही है। अण्णा का कहना रहा है कि अगर यह कानून बना तो इससे भ्रष्टाचार में 65 फीसदी कमी आएगी। मालूम हो कि जनलोकपाल का जो खाका चर्चा के लिए पेश किया गया है, वह ऐसे दस लोगों की टीम के हाथों इस लड़ाई की कमान सौंपना चाहता है, जो एक साथ पुलिस, जांच एजेंसी तथा न्यायपालिका सभी भूमिका निभा सकता हो। हमारे मुल्क में, जहां नेताओं, नौकरशाहों के भ्रष्ट होने के जितने किस्से सुनाई देते रहते हैं, उसमें इस बात की क्या गारंटी कि ऐसी टीम के मेम्बरान बेईमान नहीं होंगे। फिर उन पर अंकुश कौन लगाएगा? दूसरी अहम बात यह है कि संविधान में कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका में कार्य विभाजन किया गया है, जनलोकपाल का ढांचा न केवल इस विभाजन को खारिज करता है बल्कि वह संसद से अधिक ऊपर मालूम पड़ता है।

आजादी के बाद यह पहला मौका नहीं है जब भ्रष्टाचार के खात्मे के लिए संघर्ष खड़ा हुआ है। 70 के दशक में जयप्रकाश नारायण की अगुआई में चले बिहार आन्दोलन या 80 के दशक के उत्तरार्द्ध में वी.पी.सिंह की पहल पर बोफोर्स घोटाले के खिलाफ जनता सरगर्म हुई थी। आखिर व्यापक जनसहभागिता के बावजूद ये आन्दोलन क्यों असफल हुए? सार्वजनिक जीवन में शिष्टाचार बनते भ्रष्टाचार के खिलाफ जनता की बढ़ती बेचैनी की खासियत यही कही जा सकती है कि ऐसी तमाम तंजीमें मुख्यतः लीडरों

या उनकी अगुआई में जारी अनियमितताओं पर ही केन्द्रित रहती आयी हैं। उन्होंने उन संरचनात्मक कारणों की लगातार अनदेखी की है कि भ्रष्टाचार – जिसे आम जनमानस में भी 'अवैध लूट' का दर्जा हासिल है – का मुल्क की आर्थिक नीतियों से क्या रिश्ता हो सकता है।

अगर हम 2जी स्पेक्ट्रम आवण्टन घोटाले को लेकर कन्ट्रोलर एण्ड ऑडिटर जनरल की रिपोर्ट को पलटें, जिसके मुताबिक इसमें राष्ट्रीय सम्पदा को 1 लाख 70 हजार करोड़ रुपए का नुकसान हुआ, तो अस्सी के दशक में सामने आया बोफोर्स घोटाला 'बच्चों का खेल' मालूम हो सकता है। (याद रहे कि बोफोर्स की दलाली ही वह मुद्दा बनी थी जब वी.पी.सिंह की अगुआई में पूरे मुल्क में भ्रष्टाचार के खिलाफ सरगर्मी बनाने की कोशिश हुई थी, जिसकी परिणति केन्द्र की हुकूमत से कांग्रेस की बेदखली में हुई थी।) कहने का तात्पर्य यह कि विगत दो दशकों में भ्रष्टाचार में जबरदस्त उछाल आया है।

आखिर क्या वजह रही होगी इस उछाल के पीछे। एक बात जो आसानी से समझ में आती है कि इस दौरान मुल्क की आर्थिक नीतियों ने एक तरह से करवट ली है।

विदित हो कि 90 के दशक में राव–मनमोहन सिंह जोड़ी के सत्तासीन होने के बाद आज़ादी के बाद से चली आ रही आर्थिक नीतियों के साथ एक रैडिकल विच्छेद किया गया था और बाज़ार शक्तियों को खुली छूट देने का सिलसिला तेज़ हुआ था, उदारीकरण–निजीकरण की नीतियों के लिए रास्ता सुगम किया गया था। नवउदारवादी आर्थिक फलसफे के तहत राज्य द्वारा आर्थिक गतिविधियों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप को न केवल निरुत्साहित किया गया था बल्कि साथ ही साथ पूंजीपतियों की आर्थिक गतिविधियों पर राज्य द्वारा पहले से चले आ रहे नियमनों को लगातार ढीला किया जाता रहा। यही वह दौर था जब तमाम नए पूंजीपति सामने आए जो जल्द ही

पहले से स्थापित पूंजीपति घरानों को टक्कर दे सकते थे।

निचोड़ के तौर पर 1991 के पहले के दौर और 91 के बाद के दौर की तुलना करें तो कई फर्कों को आसानी से देख सकते हैं। 91 के पहले के दौर की खासियत के तौर पर चन्द बातें चिन्हित की जा सकती हैं : राज्य का नियमन, पूंजी पर नियंत्रण, उदाहरण के लिये – मोनोपाली एण्ड रिस्ट्रिक्टिव प्रेकिटसेस एक्ट, आयात प्रतिस्थापन, आर्थिक विकास दर धीमी, वहीं 91 के बाद साफ तौर पर राज्य के नियमन में कमी, पूंजी को खुली छूट, उदारीकरण–निजीकरण–भूमण्डलीकरण की नीतियां, बाजार शक्तियों को खुली छूट, विकास दर तेज़ आदि बातें नज़र आती हैं।

अर्थशास्त्री देव कार द्वारा 'ग्लोबल फाइनान्शियल इन्टिग्रिटी' की तरफ से सम्पन्न अध्ययन 'ड्रायवर्स एण्ड डायनामिक्स ऑफ इलिसिट फाइनान्शियल फ्लोज फ्रॉम इण्डिया 1948–2008' का अनुमान है कि विगत 61 सालों में भारत से गैर–कानूनी वित्तीय प्रवाह की मात्रा 462 बिलियन डॉलर रही है, जबकि इस राशि का 68 फीसदी आर्थिक सुधारों के बाद के 18 वर्षों में हुआ है। (आनन्द तेलतुम्बडे का साक्षात्कार, हार्डन्यूज http://www.hardnewsmedia.com/2011/08/4087)

आर्थिक नीतियों के करवट पर केन्द्रित यह स्पष्टीकरण एक दूसरी सच्चाई की अनदेखी करता है, जिसका ताल्लुक विगत एक दो दशकों में भारत की अर्थव्यवस्था के तेज़ी से हो रहे विकास – 8–9 फीसदी तक –से जुड़ा है। एक तरफ विकसित पूंजीवादी देशों में आर्थिक बढ़ोत्तरी की दर में हुई गिरावट जिसके बरअक्स 120 करोड़ आबादी के इस विशाल मुल्क के पूंजीवादी विकास के लिए कितने बड़े पैमाने पर पूंजी की ज़रूरत होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। ऐसे देश जिन्होंने अपने उपनिवेश बनाए थे, उन्होंने इन उपनिवेशों का दोहन करके अपने लिए प्रारम्भिक धनसंचय किया था; मगर उत्तर औपनिवेशिक काल में पूंजीवादी रास्ते पर चल पड़े

भारत के लिए ऐसी कोई सम्भावना नहीं दिखती। पूंजी बनाने या पूंजी संचय के उसके लिए दो किस्म के अवसर उपलब्ध है। वह गैरपूंजीवादी या प्राक्पूंजीवादी क्षेत्रों से – खेतीबाड़ी, हथकरघा – से अधिकाधिक पूंजी हड़पे और जनता की बचत को अधिकाधिक पूंजी में तब्दील करे। जनता को आए दिन जो घूस देनी पड़ती है, वह एक लम्बे नेटवर्क के ज़रिए अन्ततः पूंजी में तब्दील हो जाती है। भ्रष्टाचार के ज़रिए जमा पूंजी कोई पुराने समय के सामन्तों की ज़मीन में गाड़ कर नहीं रखता। भ्रष्ट अधिकारी अपने विश्वासपात्र लोगों से उसका कहीं निवेश करता है और वह पूंजी में तब्दील हो जाती है।

भ्रष्टाचार के ज़रिए सरकारी अधिकारी ही मालामाल नहीं होते, उसका सबसे बड़ा फायदा तो कॉर्पोरेट सम्राटों को मिलता है। टू जी घोटाले को देखें तो कानिमोझी 200 करोड़ रुपए के चलते या ए राजा ऐसे ही कुछ सौ करोड़ रुपए की रिश्वत पाए होंगे, मगर एक लाख 70 हजार करोड़ रुपए के घोटाले की असली मलाई तो टाटा, अम्बानी आदि को ही मिली। निश्चित ही उन्होंने इस राशि को अपने बैंक खाते में नहीं रखा होगा, वह पूंजी बन कर निवेश कर दी गयी होगी। एक तरह से भ्रष्टाचार पूंजी संचय का आसान ज़रिया बन जाता है। उभरते पूंजीवाद ने अगर ब्रिटेन में एनक्लोजर एक्ट के ज़रिए किसानों की ज़मीन हड़पी थी, या अमेरिका में रॉबर बैरन्स अर्थात डाकू थैलीशाहों का आगमन शुरुआती समयों में हुआ था, तब 21 वीं सदी की इस बेला में जहां पूंजीवाद के विकास में राज्य भी फैसिलिटेटर की भूमिका में आया है, वहां नियमों को बायपास करके कॉर्पोरेट मालिकानों के वारे–न्यारे किए जा रहे हैं।

कहने का तात्पर्य यही कि भ्रष्टाचार महज पॉलिटिकल क्लास की बेईमानी (जो अपने आप में एक विराट परिघटना है) का मसला नहीं है बल्कि उसका ताल्लुक हुकूमत सम्भालने वालों की तरफ से अपनायी जाती आर्थिक नीतियों से भी अभिन्न रूप से जुड़ा मसला है।

मिसाल के तौर पर हम कॉर्पोरेट क्षेत्र को मिलने वाली छूट को देखें, क्या उन्हें हम नीति का हिस्सा मान सकते हैं या भ्रष्टाचार का? उदाहरण के लिए वीडियोकॉन नामक चर्चित कम्पनी के बारे में ख़बर आयी थी कि उसने टैक्स बचाने तथा अन्य वजहों से तीन सौ सब्सिडीअरी कम्पनियों का निर्माण किया है और यह सब 'कानूनन' किया है। उसी तरह से पिछले दिनों किंगफिशर एयरलाइन्स के बारे में समाचार छपा कि उसे कर्जे से उबारने के लिए सरकारी बैंकों से कहा गया है जो उन्हें बेहद सस्ते दर पर ऋण मुहैया कराएंगी। सरकारी बैंकों के नानपरफार्मिंग एसेट्स अर्थात ऐसे ऋण जो लम्बे समय से लौटाए नहीं गए हैं, उनका भी वही किस्सा है। कुछ समय पहले सीपीआई से सम्बद्ध ट्रेड यूनियन के नेता ने अख़बार को बताया था कि किस तरह बैंकों के एनपीए का नब्बे फीसदी से अधिक हिस्सा बड़े–छोटे पूंजीपति घरानों के नाम होता है, जो कभी उसे लौटाने की बात भी नहीं करते और कुछ समय बाद 'खराब कर्जे' कह कर उसे लेखाजोखा विवरण से भी हटा दिया जाता है। आम किसान या मजदूर द्वारा लिए गए छोटे मोटे कर्जे की वापसी न होने पर उसे गिरफ्तार करने के लिए पहुंचती सरकारी मशीनरी ऐसे कर्जो पर नोटिस भेजना भी मुनासिब नहीं समझती। स्पेशल इकोनोमिक ज़ोन्स अर्थात विशेष आर्थिक क्षेत्र की बहुचर्चित नीति को भी देखें जहां अरबों रुपए के भू–खण्ड मामूली दामों पर पूंजीपति घरानों को सौंपे जाते हैं जहां अपने मन माफिक नियम बना कर काम कर सकते हैं, उसे क्या कहेंगे।

कहने का तात्पर्य यह कि किसी अलसुबह सारे नेतागण/नौकरशाह अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को पूरी तरह निभाते हुए काम करने लग जाएं तो भले सरकारी संसाधनों की 'अवैध कही जा सकने वाली लूट' भले बन्द होगी मगर वह सिलसिला पूरी 'वैधता' के साथ चलता रहेगा, जो सरकारी नीतियों की छत्रछाया में ही उमड़ता दिखता है।

वैध लूट के मायने है मुनाफे के लिए श्रमशक्ति की लूट। आखिर कहां से

आता है पूंजीपति के पास अत्यधिक धन। सभी जानते हैं कि पूंजीपति श्रमिक की श्रमशक्ति का दोहन करता है, बाज़ार के दर के हिसाब से उसे अपनी श्रमशक्ति का मूल्य चुकता करता है और बाकी बची राशि को अपने पास रख लेता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र की भाषा में इसे 'अतिरिक्त मूल्य' का दोहन कहते हैं। पूंजीवादी समाज में हमारी चेतना इस तरह गढ़ी जाती है कि जहां हम 'अवैध लूट' का अर्थात भ्रष्टाचार का विरोध करते हैं, मगर श्रमशक्ति का दोहन कर अतिरिक्त मूल्य को हासिल करना हमें स्वाभाविक लगता है। क्या यह माना जा सकता है कि श्रमशक्ति की लूट पर टिका वर्तमान समाज, जहां इस 'वैध लूट' का सिलसिला बिल्कुल विधिसम्मत है, वहां समाज के इस केन्द्रीय मसले को सम्बोधित किए बगैर हम 'अवैध लूट' के सिलसिले को रोक सकेंगे ?

निश्चित ही नहीं !

सहजबोध बने पूंजी के तर्क पर जब तक चोट नहीं पहुंचती है, तब तक भ्रष्टाचार जैसी 'अवैध लूट' को समाप्त करना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन भी है।

मैं भी अन्ना

गलियां बोली मैं भी अन्ना, कूचा बोला मैं भी अन्ना !
सचमुच देश समूचा बोला मैं भी अन्ना मैं भी अन्ना !
भ्रष्टतंत्र का मारा बोला, महंगाई से हारा बोला !
बेबस और बेचारा बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
साधु बोला मैं भी अन्ना, योगी बोला मैं भी अन्ना !
रोगी बोला भोगी बोला, मैं भी अन्ना मैं भी अन्ना !
गायक बोला मैं भी अन्ना, नायक बोला मैं भी अन्ना !
दंगों का खलनायक बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
कर्मनिष्ठ कर्मचारी बोला, लेखपाल पटवारी बोला,
घूसखोर अधिकारी बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
मुंबई बोली, मैं भी अन्ना, दिल्ली बोली, मैं भी अन्ना !
नौ सौ चूहे खाने वाली बिल्ली बोली, मैं भी अन्ना !
डमरू बजा मदारी बोला, नेता खद्दरधारी बोला !
जमाखोर व्यापारी बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
दायां बोला मैं भी अन्ना, बायां बोला मैं भी अन्ना !
खाया पीया अघाया बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
निर्धन जन की तंगी बोली, जनता भूखी–नंगी बोली !
हीरोइन अधनंगी बोली, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !
नफरत बोली मैं भी अन्ना, प्यार बोला मैं भी अन्ना !
हंस कर भ्रष्टाचार बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना !

—अरूण आदित्य

एसोसिएट एडिटर, अमर उजाला

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका नई दिल्ली-110067

केवल सीमित वितरण के लिए